" Oriental studies have contributed more than any other branch of Scientific research to change, to purify, to clear and intensify the intellectual atmosphere of Europe and to widen our horizon in all, that pertains to the Science of Man, in history philology, theology and philosophy." (Selected Essays)

परमदेव कृपा करें कि जिस से सनातन वैदिक धर्म के अटल सिद्धान्तों की ओर देशकी विद्वन्मंडली की रुचि बढ़ सके ।

(१) राजोपदेशक महात्मा श्री स्वामी विश्वेश्वरानन्दजी (शिमला)

(२) धर्मोपदेशक महात्मा श्री स्वामी परमानन्दजी (आगरा)

(३) श्रीयुत राए साहब बाबू रघुवरदयालजी बी. ए. रेल्वे मेजिस्ट्रेट उदयपुर (मेवाड़)

(४) श्रीयुत राए ठाकुरदत्तजी धवन रिटायर्ड डिस्ट्रिक्ट जज (लाहौर)

(५) राए साहब श्रीयुत राए गिरधारीलालजी जनरल कौनट्रैक्टर, श्वेबो, (ब्रह्मा)

(६) श्रीयुत पंडित जगन्नाथजी निरुक्तरत्न, प्रधान आर्य समाज (अमृतसर)

(७) श्रीयुत पंडित शिवदत्तजी काव्यतीर्थ भिषगाचार्य, मुख्याधिष्ठाता महाविद्यालय (ज्वालापुर)

(८) श्रीयुत शेठ शूरजी वल्लभजी वड़गादी (मुंबई)

(९) श्रीयुत पंडित रघुनन्दनजी शर्मा लेखक 'अक्षरविज्ञान' (कानपुर)

(१०) श्रीयुत बाबू अलखधारीजी बी. ए. (गवालियर)

(११) श्रीयुत बाबू वृन्दावनजी हैडमास्टर (काशीपुर)

(१२) श्रीयुत ब्रह्मचारी भवानन्दजी शर्मा बड़ोदा

(१३) दानवीर स्वर्गीय बाबू दौलतरामजी महेश्वरी कौनट्रैक्टर (अमृतसर)

(१४) श्रीयुत न्यायतीर्थ पंडित हरिश्चन्द्रजी (अमृतसर)

(१५) श्रीयुत व्याकरणतर्क पंडित कन्हैयालालजी (अमृतसर)

(१६) श्रीयुत पंडित दुर्गाशरण पांडेय विद्यालङ्कार (काशी) बड़ोदा

इन उपरोक्त महानुभाव पुरुषों का उस शुभ सम्मति तथा उत्तम अनुमति के लिए जो समय समय पर वह देते रहे, धन्यवाद करता हूं ।

इन के अतिरिक्त बड़ोदा राज्य के संग्रहस्थान (Museum) के डायरेक्टर विद्या प्रेमी श्रीयुत मानचेकजी कावसजी कांगा एम. ए बी एस. सी. एल एम. एस. (Dr. M. K. Kanga M. A. BSC. L. M. & S) तथा क्यूरेटर श्रीयुत अम्बाराम हरिशंकर महोदय का अन्तःकरणपूर्वक उस कृपा के लिए धन्यवाद करता हूं जो उन्होंनें मिसर की प्राचीन सुरक्षित शव (Mummy), शिवालक पर्वत में से प्राप्त हाथी के दांत तथा कछुए की Cast fossil प्रतिरूप अस्थिशेष के फोटो लेने की आज्ञा दी ।

बड़ोदा के सुप्रसिद्ध लक्ष्मीविलास प्रेस के मैनेजर श्रीयुत छोटालाल लालभाई पटेल भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्हों ने गुजरात में जहां हिन्दी का प्रचार नहीं, इस पुस्तक को छापकर हिन्दी साहित्य की सहायता की ।

बड़ोदा, १ सेप्टेम्बर १९१६	पाठकों का सेवक, **आत्माराम** (अमृतसरी)

EGYPTIAN MUMMY

इजिप्त मिसर देशनुं ममी

इजिप्त अथवा मिसर देशमां असलना वखतमां मुड़दाने मसाला लगावी जमीनमां दाटवानो रीवाज हतो ए प्रमाणे दाटेला मुड़दामांनुं आ एक मुड़दुं छे। आसर त्रण हजार वर्षनुं धारवामां आवे छे।

ओ३म्

सृष्टिविज्ञान.

प्रथम अध्याय.

पश्चिमी विद्वानों में इस विषय पर भलीभाँति आंदोलन हो रहा है, कि आदि सृष्टि मनुष्यादि की किस प्रकार हुई ? दो विचारों पर वह लोग इस विषय पर पहुँचे हैं: एक यहकि कर्त्ता ने सृष्टि की रचना नियम पूर्वक निर्माण की है। दूसरे यह कि सर्व प्राणि उक्त प्रकार के विरुद्ध किसी एक स्वरूपसे विकारको प्राप्त होते हुवे वर्त्तमान दशाओं को पहुँचे हैं। महोदय ज्यॉर्ज रोमेनीज़* की प्रथम विचार (आस्तिकवाद) पर यह आशंका है कि यह बात मनुष्यकी बुद्धि में कैसे आ सकती है कि किसी व्यक्तिका विचित्र शरीर एक क्षण में बहिरङ्ग दशाओं के अनुकूल हो गया ? जगत् प्रसिद्ध डारविन महोदय भी प्रथम विचार वा आस्तिकवाद के विरुद्ध हैं। लायल†, हैकील, आदि अनेक पश्चिमी विद्वान् डारविन से सहमत हैं और मानते हैं कि जिस प्रकार भिन्न२ मानवी भाषाएं किसी एक भाषाका रूपान्तर हैं, उसी प्रकार नाना व्यक्तियों की दशा माननी चाहिए, और अपनी पुष्टि में यह कहते हैं कि सृष्टि उत्पत्ति

---

* The Scientific Evidence of Organic Evolution. by George J. Romanes, M.A. LL. D. F.R.S.

† Lyell, Darwin & Haeckel.

EGYPTIAN MUMMY

इजिप्त मिसर देशनुं ममी

इजिप्त अथवा मिसर देशमां असलना वखतमां मुड्दाने मसाला लगावी जमीनमां दाटवानो रीवाज हतो ए प्रमाणे दाटेला मुड्दामांनुं आ एक मड्दुं छे। आसरे त्रण हजार वर्षनुं धारवामां आवे छे।

Preeja Prata
10 th class

ओ३म्

सृष्टिविज्ञान.

प्रथम अध्याय.

पश्चिमी विद्वानों में इस विषय पर भलीभाँति आंदोलन हो रहा है, कि आदि सृष्टि मनुष्यादि की किस प्रकार हुई ? दो विचारों पर वह लोग इस विषय पर पहुँचे हैं: एक यहकि कर्त्ता ने सृष्टि की रचना नियम पूर्वक निर्माण की है । दूसरे यह कि सर्व प्राणि उक्त प्रकार के विरुद्ध किसी एक स्वरूपसे विकारको प्राप्त होते हुवे वर्त्तमान दशाओं को पहुँचे हैं । महोदय ज्यॉर्ज रोमेनीज़* की प्रथम विचार (आस्तिकवाद) पर यह आशंका है कि यह बात मनुष्यकी बुद्धि में कैसे आ सकती है कि किसी व्यक्तिका विचित्र शरीर एक क्षण में बहिरङ्ग दशाओं के अनुकूल हो गया ? जगत् प्रसिद्ध डारविन महोदय भी प्रथम विचार वा आस्तिकवाद के विरुद्ध हैं । लायल†, हैकील, आदि अनेक पश्चिमी विद्वान् डारविन से सहमत हैं और मानते हैं कि जिस प्रकार भिन्न२ मानवी भाषाएं किसी एक भाषाका रूपान्तर हैं, उसी प्रकार नाना व्यक्तियों की दशा जाननी चाहिए, और अपनी पुष्टि में यह कहते हैं कि सृष्टि उत्पत्ति

---

* The Scientific Evidence of Organic Evolution. by George J. Romanes, M.A. LL. D. F.R.S.

† Lyell, Darwin & Haeckel.

के नियम में यह बात हम मानते हैं कि किसी व्यक्ति के पितृज* स्वभा-वादि क्रमशः विकृत हो गये उस समय जबकि उन के शरीर ऐसा होने से **उन्नत** अवस्था प्राप्त होनेके योग्य थे। इसलिये उनके कथन का सारांश यह है कि सर्व व्यक्तियां जो वर्तमान दशा में देखी जाती हैं वह अपने से पूर्व अवनत रूपों का उन्नत और विकारमय स्वरूप हैं। जब इनसे पूछा जाता है कि किसी वर्त्तमान व्यक्ति की दशा में दस सहस्र वर्ष के भीतर सर्वथा **व्यक्ति-विकार** होना तो दिखाओ, तब मौन साध जाते हैं; परन्तु मौन को तोड़ने के लिए यह कहते हैं कि " जब जीवन की विकृत दशाओं के कारण किसी व्यक्ति का कोई अङ्ग जो पूर्व दशा में काम करता था निकम्मा हो जाता है तो स्वाभाविक-निर्वचन† तथा निकम्मापन मिलकर उस अङ्ग को नष्ट करने अथवा चिन्ह मात्र रहनेका कारण बन जाते हैं ॥ "

प्रोफैसर हक्सली‡ इससे कुछ अच्छी बात यह बतलाते हैं कि "प्रत्येक पशु और बनस्पति की महान् जातियों में विशेष व्यक्तियां ऐसी होती हैं जिनको मैं§ स्थिर आकृति का नाम देताहूं जिनके स्वरूप में आदि सृष्टि से लेकर वर्तमान काल पर्य्यन्त कोई ऐसा प्रकट विकार नहीं हुआ जिसको हम प्रतीत कर सकें. "

कौन्डर महाशय¶ हक्सली से भी बढ़ कर डारविनादि के विचारों पर आशङ्का करते और कहते हैं किः—

---

* (Hereditary)
† Natural Selection.
‡ Professor T. H. Huxley (anniversary address.)
§ "Persistent Types"
¶ Natural Selection and Natural Theology. By Eustace. R. Conder. D. D.

(१) (क) यह कहना कि मनुष्य के आदि पितर मूर्ख पशु थे और बानरोंकासा जीवन व्यतीत करते थे, इस कथन को केवल किसी मनुष्य की कल्पना वा निज विचार समझना चाहिए न कि साइन्स (तत्त्वविद्या) का सिद्धान्त ।

(२) (ख) स्वाभाविक स्पर्द्धा तथा प्रवृति के विषय में कहते हैं कि किस प्रकार माना जावे कि एक व्यक्ति दूसरे के स्वरूप का विकार ही है जब कि हम छोटी छोटी बनस्पति पुराने कोटों (किलों) वा स्थानों की दीवार अथवा समुद्रके **एकान्त** तट पर उगी हुई पाते हैं, वहां वह किससे *स्पर्द्धा (मुकाबिला) करके जीवित हो रही है ?

(३) (ग) जो यह कहा जाता है कि एक अति साधारण " मछली " से रूपान्तर होते होते नाना शरीर प्रकट हुए, यह इस लिए ठीक नहीं कि आजकल उस साधारण लोथड़ारूप मछली की सन्तान **वैसा ही** लोथड़ा होती है—यह मछली किस प्रकार होमर† अफलातून डेविड, पाल, और शेक्सपियर आदि विद्वानोंकी आदि-पितृ हो सकती है ?

(४) (घ) सृष्टिकर्त्ता को मानता हुआ कोई बुद्धिमान् यह कल्पना नहीं कर सकता कि प्रत्येक वनस्पति अथवा पशुओं की उपजातियाँ शून्य से प्रादुर्भूत हुई हों ।

(५) (च) यह कथन तब माने जा सकते हैं जब यह दिखा दिया जावे कि चिड़िया छुपकली के अण्डे से उत्पन्न होती है ॥

---

* Competition.

† Homer, Plato, David, Paul & Shakespeare.

(६) (छ) यदि प्रकृति पूर्व काल में इस वेग से एक व्यक्ति को विकृत करने से भिन्न २ शरीर उत्पन्न करने के योग्य थी तो उस वेगसे प्रकृति अब क्यों नहीं कार्य्य करती ? यदि वर्तमान समयमें नवीन शरीर किसी शरीर से विकृत हो कर उत्पन्न नहीं होते तो कुछ ऐसे विकार ही दर्शादो जिस से अनुमान तो कर सकें।

एक और पश्चिमी प्रसिद्ध विद्वान् लैनकास्टर* नामी इस त्रुटि को इस प्रकार अनुभव कर रहे हैं जो कि डारविन मत में है।

" उन स्थलों और विषयों में जहाँ कि उन्नति करते जाने का महान् नियम माना गया है वहाँ अवनति भी सङ्ग सङ्ग चलती है। वाणी-उन्नति के विषय का अनुसन्धान करते हुए शब्द शास्त्रवेत्ता अवनति के नियम को चिरकाल से दर्शा रहे हैं। कई मनुष्य जातियाँ जो उन्नति और सभ्यता के शिखरपर थीं वह अवनत दशा को प्राप्त हो चुकी हैं। यह बात भली भांत्ति स्मरण रखनी चाहिए कि हम " इवोल्यूशन " (उत्क्रान्ति) के साधारण नियमों के वशवर्ती हैं, और उन्नति तथा अवनति दोनों ही कर सकते हैं......पुण्य के स्थान में पाप और और सत्य के स्थान में अनृत व्यवहार से जो वर्तमान मनुष्य उन्नति के स्वरूप को कलंकित कर रहे हैं, क्या हम इन को उन्नति के चिन्ह कह सकते हैं ? "

---

* Degeneration—A Chapter in Darwinism & Parthenogenesis. By E. Ray Lankester. M.A. LL. D., F.R.S.

एक रिचि नामी* अन्य प्रसिद्ध विद्वान् डारविनमत में कई त्रुटियाँ इस प्रकार अनुभव कर रहा है।

(१) हम इस बात का निश्चय नहीं कर सकते कि उत्क्रान्ति (इवोल्यूशन) सदैव काल किसी विशेष उपजाति को अत्यन्त उन्नत और पूर्ण कर देगी। जहां उन्नति का नियम काम कर रहा है वहां सङ्ग सङ्ग अवनति का नियम भी वर्तमान है और इस प्रकार निश्चय रखने से मनुष्य अधोगति से बच सकता है।

(२) " जिसकी लाठी उस की भैंस " यह कुटिल नीति जो कि डारविन मत का एक अङ्ग है उस के खंडन में लिखते हैं कि जहां ईश्वरने प्राणियों के मुख बनाये वहां उन के भोजन का भी प्रबन्ध कर दिया है।

(३) स्वाभाविक-निर्वचन† के स्थान में " नियम पूर्वक रचना " का सिद्धान्त मानना ठीक है नकि उक्त क्रूर विधि।

(४) डाक्टर आसाग्रे‡ नामी विद्वान् को डारविनने जो एक पत्र लिखाथा उस में वह लिखते हैं कि मैं सृष्टि में नियम पूर्वक रचना और परोपकार को अनुभव नहीं करता, मुझे तो पृथिवी नरककुण्ड प्रतीत होती है। इस के विपरीत खण्डनकर्ता महोदय सृष्टि में सर्वोपकारी नियम दर्शा रहे हैं।

(५) स्पर्द्धा§ और संघर्ष मनुष्योंमें तब बढ़ जायेगा जब

---

* Darwinism and Politics. By David G. Ritchie. M.A.

† Natural Selection.

‡ Dr. Asa Gray.

§ Competition.

डारविन मत जो प्रबल व्यक्तिद्वारा निर्बलोंपर अन्याय करना सिखाता है, मानलिया जावे। अनियमित स्पर्द्धावृत्तिका फल सर्व मनुष्योंकी शक्तियोंकी परस्पर हानि कराना ही है। कई लोगोंको कठिन श्रम चिर काल करना पड़ता है। दूसरों को कुछ भी काम करने को मिल नहीं सकता और जीवन सन्देहमें रहता है। सर्व व्यवहार नष्टभ्रष्ट हो जावें यदि सबलोग डारविनमत पर ही चलने वाले हों॥

एक और महा विद्वान् महाशय स्ट्रेञ्ज* ने डारविनमत का भली प्रकार खण्डन किया है, उनकी पुस्तक की समालोचना हम नीचे करते हैं। महाशय स्ट्रेञ्ज लिखते हैं कि "मिस्टर डारविन का विचार जिस पर बहुत ध्यान दिया जा चुका है, यह उन सिद्धान्तों से शून्य है, जिन पर मेरा विचार निर्भर है। डारविन कल्पना करता है कि प्राणियों के शरीरों के नानारूप एक दूसरे से धीरे धीरे विकारयुक्त हो कर निकले हैं, इस रीति से सब प्राणियोंके शरीर एक पहिले किसी अत्यन्त साधारण शरीर से विकृत हुए हैं। परन्तु जल कृमियों की दशामें हम देखते हैं, कि बहुत प्रकार के भिन्न स्वरूप वाले जन्तु प्रतिदिन उत्पन्न होते रहते हैं, यह जन्तु आवश्यक नहीं कि एक ही से विकृत होकर उत्पन्न हुए हों, प्रत्युत एक समय में भिन्न भिन्न शरीरों में एक दूसरे की अपेक्षा रहित हो कर उत्पन्न होते हैं। इस के अतिरिक्त सारी पृथिवी के नाना स्थलों पर जो विशेष देश सम्बन्धी बनस्पति और जन्तु पाए जाते हैं जो कि

---

* The Development of Creation on the Earth. By Thomas Lumisden Strange. Late Judge of the High Court; Madras. (London. Trubner and Co. Ludgate Hill.)

भिन्न भिन्न स्वरूपों में विभक्त हैं वह भी जातियों की पृथक् पृथक् उत्पत्ति को प्रकट करते हैं, नकि एक रूपसे विकृत होकर उत्पन्न होने को दर्शा रहे हैं।"

"मिस्टर डारविन के विचार में ऐसी भारी त्रुटियां हैं जो कि इसको निर्मूल करदेती हैं। उसको पग पग पर ठोकरें खानी पड़ती हैं, और आवश्यक सामग्री के न रखने के कारण उसको सदैव अपना विचार कल्पना की नींव पर रखना पड़ता है। वह चाहता है कि एक जाति और भिन्न भिन्न जातियों के वास्तविक भेद को हम भूल जाएं* जब कि **बन्ध्यापन** का नियम सदैव दो भिन्न भिन्न जातियों के अन्धाधुन्ध मेल में भारी विघ्न डालता हुआ नाना नाना जातियों को पृथक् पृथक् दर्शा रहा है।"

"चाहे जाति रचनामें विशेष अन्तर रखने अथवा घृणा के कारण भिन्न जातियों के प्राणि एक दूसरे से **समागम नहीं करते**, यदि कभी वह समागम करके सन्तान उत्पन्न करें तो वह सन्तान बांझ होजाती है। इसके विपरीत यदि एक जाति की भिन्न भिन्न व्यक्तियां परस्पर समागम करें तो बन्ध्यापन के दोष से दूर रहकर उत्तम सन्तति उत्पन्न करने के सामर्थ्य होती हैं। यदि भिन्न भिन्न स्वतंत्र जातियों को एक महान् जाति का ही रूप समझ लिया जाए तब मिस्टर डारविन अपने विचार को स्पष्ट करने की चेष्टा में दृष्टान्त देते हैं कि जैसे हम सेबफल अथवा कबूतरों के सौ रूपान्तर कर सकते हैं, एक सेबफल को नाश्पाती बना सकते हैं, अथवा कबूतर का कौआ बनाया जा सकता है, और इसी प्रकार

---

* Origin of Species, 3rd Edition. (Pages 54, 69 & 61.)

आगे आगे रूप बदले जा सकते हैं। एक भिन्न जातिसे दूसरी भिन्न जाति तक जो मध्यवर्ती स्वरूप होने चाहिएं वह कहीं नहीं मिलते, और इसलिए सुगमतासे वह कल्पना करता है कि वह मध्यवर्ती स्वरूप विनाशको प्राप्त होगये होंगे।* (पृष्ठ १९७) न केवल यही परञ्च उनके शेषांश भी कहीं दबे हुए नहीं मिलते (देखो पृष्ठ १९७) स्वरूप की निकट सादृश्यता ने उसको निश्चय करा दिया है कि बनमानस बन्दर, मनुष्य का निकट वर्ती सम्बन्धी है जो कि इस शृंखला के अन्तिम स्थल पर है और पाहिले स्थल पर केंकड़ा† है। यदि सर्व प्राणि एक ही पूर्वज बीजसे उत्पन्न हुए हैं और स्वरूपों का विकारमय होते जाना परिणाम है तो इसके अनुसार उसको बनस्पति, पशु जातिसे जोड़नी पड़ेगी, और खनिज् पदार्थ बनस्पति से जोड़ने होंगें, और ऐसी दशा में इन भिन्न भिन्न पदार्थोंका अन्तर कौन कह सकेगा? उसका बड़ा भारी स्वरूप बदलने वाला यन्त्र वह है जिसको वह स्वाभाविक-निर्वचन‡ का नाम देता है, जिसका अभिप्राय यह है कि पदार्थ अपने आपको उत्तम बनाने का यत्न करता है। इस रीति से मछलियों के पर टांगों अथवा पक्षी के परों के रूप में बदले जा सकते हैं, जैसा कि Penguin पराभास मछली का दृष्टान्त है जो कि तटपर उन परों के बल से रींगती है जिनसे कि जल मे तैरा करती है, तथा उड़नेवाली मछली का दृष्टान्त लो, जो जल से निकल कर वायु मण्डल में अपने परों के बल उड़ सकती है (देखो पृष्ठ २००,

---

* Origin of Species. (Pp. 194-197).

† Crab.

‡ Natural Selection.

२०१)। असंख्य पीढ़ियों की हमें कल्पना करनी पड़ती है, इस कल्पना के अनुसार मछलियों को भूमिपर चलने के लिए चिरकाल परस्पर युद्ध करना पड़ा, अन्त को उन्नत जातियां सफलता को प्राप्त हुईं और क्रमशः जलमें श्वास लेने का उल्लंघन करने पर, तट पर जीवन व्यतीत करने का स्वभाव धारण किया। इसके पश्चात् उच्च अवस्था के संकल्प रखती हुईं यत्न करने से उन अङ्गों को जो कि अब निकम्मे थे बदल डाला और उन के स्थान में उत्तम अङ्ग प्रगट किये और छिलकेदार पूंछ को झाड़कर उस के स्थान में रोम धारण कर लिये। इस से भी बढ़ कर विचित्र विकारों की कल्पना करनी पड़ती है, जब हमें यह अनुसन्धान करना पड़ता है, कि कैसे * सीप मोर पक्षी के स्वरूप में आगई वा एक Midget† मच्छर वा मखी ने हाथी का रूप धारण कर लिया। निःस्सन्देह यह बात समझ में नहीं आती कि कैसे चक्षु अङ्ग जो कि एक महान् विचित्र रचना है, स्वयम् उत्क्रान्ति के नियम पर चलकर बन गया हो। परन्तु युक्ति शून्य होने के दोष से बचने के लिए मिस्टर डारविन को कल्पना करनी पड़ी कि ऐसा होनाभी सम्भव है (देखो पृष्ठ २०५–२०९)। कई दृष्टान्तों से यह सिद्ध होता है कि विकार की दशामें अवनति भी हो जाती है न कि उन्नति ही। जिस Ascidian जलचर वा केंकड़े का डारविन महोदय दृष्टान्त देते हैं उसकी आरम्भिक दशा स्वतंत्र गतिमान् प्राणि की मानी जाती है और अन्तिम दशा बनस्पति समान अथवा जैसे पहाड़में Polype

---

* सीप उस जाति के जलप्राणि को कहते हैं जिनमें से मोती निकलता है.

† The common name of numerous species of gnats and flies.

(बहु भुजाधारी कीट) अटका रहता है, वैसी माननी पड़ती है। विशाल ओक (शाहबलूत) वृक्ष जिसकी शाखांए गगनमण्डलमें विस्तीर्ण हो रही हैं, किस प्रकार घट कर एक तुच्छ जलचर बन-गया, यह बात बुद्धि में आनहीं सकती यद्यपि यह कल्पना करते जाओ कि सर्व व्यक्तियां एकही आदि बीज से उत्पन्न हुई हैं। "

" यह अवश्य मानना पड़ेगा कि प्रत्येक कृमि तबही उत्पन्न हुआ जब कि वह वस्तु जिस को वह खाता है, पहिले उत्पन्न हो लीं। वह कृमि जो मनुष्यपर जीवन निर्भर रखतें हैं क्या इसी विकार के नियमसे उत्पन्न हुए हैं ? मिस्टर डारविन और उनके मतानुयायी इन भारी प्रश्नों का हमें कोई उत्तर नहीं देते. "

" बहुत से विद्वानों के मध्यमें एक डाक्टर स्ट्रास* हैं जि-न्होंने मिस्टर डारविन की कल्पना को मान लिया है। वह शरीर के रूपान्तर होने के कारण पशुका अपना स्वाभाविक ज्ञान और स्वभाव दर्शाते हैं। उन का कथन है कि आओ कल्पना करें कि कहीं पर आदि समय के पशुओं का एक समूह है और सींग से अबतक शून्य है केवल बलवान गर्दन और उभरे हुए मस्तक रखता है। इस समूह पर हिंसक प्राणि आपड़े, यह समूह उन की तरफ दौड़ता और अपने शिर उन के विपरीत टकराने से अपने आप को बचाता है। फिर टकराने से वही सांड हिंसक प्राणियों को भगादेंगे जिन के माथे दृढ़ बलवान् हैं। यदि इस टकरानेसे किसी विशेष व्यक्ति के माथेपर मल एकत्र होने से सींग का चिन्ह निकल आवे तो यह विशेष प्राणि अपने जीवन को सुरक्षित रखने के अत्यन्त योग्य होगा। यदि छोटे

* Dr. Strauss.

सींग रखनेवाले सांड इस समूह के हिंसक प्राणियों से मारे जायें तब उस दशामें वह एक विशेष व्यक्ति जिस के शरीरपर बड़े सींग हो-गये अपनी जाति को, सन्तान उत्पन्न करके फैलायेगा§। इस कथन से यह प्रतीत होता है कि किस प्रकार हाथ पाओं मारने की चेष्टा की गई है, ताकि मनोकल्पित विचार सिद्ध किये जावें। "

" परन्तु क्या कुछ भी सिद्ध हुआ ? मान लिया जावे कि माथे की हड्डी पुष्ट हो गई और इसपर से सींग फूट निकला। परन्तु क्या कारण है कि सींग उन्नत होते हुए अन्त को जाकर केवल एक ही जोड़ा बनकर रह गये और वह भी एक कोने पर एक दूसरे कोनेपर दूसरा और फिर उन सींगोंकी अन्त में जा कर नोकें निकल आवें जैसा कि किसी शिल्पीने ढ़ाल कर बनाई हों। हमें दो ही सींगों की आशा नहीं करनी चाहिए ऐसे बीस सींगों की आशा होनी चाहिए क्यों न सारा ही माथा झाड़ी के समान सींगोंसे भरपूर हो गया ? क्या कारण कि हमें वह पशु जिस के विषय में कहानियों में एक सींग होना पढ़ते हैं, कहीं देखने में नहीं आता ? "

हमने यह दिखाने की चेष्टा की कि महाशय स्ट्रेंज आदि पाश्चात्य महा विद्वान् इस प्रकार उत्क्रान्ति वाद के विरुद्ध लेख लिख चुके हैं। और लीजिये Civilization and Progress (सभ्यता तथा उन्नति) नामक ग्रन्थ के प्रसिद्ध कर्ता जान बीटी करोज़ियर* इस बात के विरुद्ध हैं। करोज़ियर महोदय के लेख

---

§ The Old Faith and the New.

* John Beatie Crozier.

में यह दर्शाया गया है कि इस प्रकार का मत मानने से सदाचार वा न्यायाचरण के फैलने की मनुष्य समाज में कोई आशा नहीं हो सकती।

अब हम करोज़ियर महोदय के कुछ वचन नीचे लिखते हैं। "अब यह जानते हुए कि पदार्थों का वास्तविक स्वरूप हमारे निरीक्षण से सर्वथा परे अर्थात् भूतकाल की गुफाओं में दबा हुआ है, इससे सिद्ध होता है कि उसकी व्याख्या केवल यही दर्शा सकती है कि वस्तुएं किस प्रकार से बनीं होंगीं, यदि विकासवाद सत्य हो, तो भी यह नहीं बतासकता कि वास्तविक में वह किस प्रकार बनीं थीं।"

" उत्क्रान्ति का नियम जो दर्शा रहा है, कि सृष्टि निचले दर्जे के प्राणियों से विकास पाकर ऊंचे दर्जे के शरीरों तक गोल रस्ते से पहुंची, जिसमें किसी स्थलपर भी कोई श्रृंखला नहीं टूटी वह भी विवश होकर अन्त को मानता है कि प्रकृति और आत्मा के मध्य में जो भारी अन्तर है वह मिला दिया नहीं जासकता और ऐसा होनेसे अपनी उन प्रतिज्ञाओं को जो पूर्ण व्याख्या होने का दम भरती हैं मिथ्या बनाता है, पर न्याय का नियम इसके विपरीत सृष्टि को एक सर्वत्र सामान्य रीति से बना हुआ दर्शाता है, इसके दृश्य एक दूसरे पर अध्यक्षों के क्रम में रक्खे हुए हैं, किन्तु जो मिल नहीं सकते उनके मिलाने का अथवा गूढ़ की व्याख्या करने का ढ़ोंग नहीं करता। उत्क्रान्ति का नियम आत्मा के उच्च से उच्च गुणों को केवल प्राकृतगुण ही दर्शाता और आत्मा तथा प्रकृति का वास्तविक स्वरूप एक ही कर देता है, और ऐसा करने पर वह मनुष्य समाज के अनुभव जन्य ज्ञान के विरुद्ध चलता है,

न्याय का नियम प्रकृति और आत्मा के स्वरूप भिन्न भिन्न दर्शाता और ऐसा करने से सृष्टि के अध्यक्षपन तथा पदार्थों के गुणों को सुरक्षित रखता है और यह बात हमारे स्वाभाविक अनुभव जन्य–ज्ञान के अनुकूल है और उस पर हमारी सर्व नियममय बुद्धि निर्भर है।"

"स्पेन्सर मानता है कि प्रमाणु जिनसे विश्व बना है वह संयोग और वियोग की शक्तियों से युक्त हैं और इवोल्यूशन (उत्क्रान्ति) का नियम उक्त बात का स्पष्ट परिणाम है। इस लिय यह न्याय के नियम का परिणाम है और न्याय का नियम इसका परिणाम नहीं।"

"कोई भी ज्ञान सृष्टि नियमों का, चाहे कितना भी पूर्ण हो, एक बात नहीं बता सकता अर्थात् यह आश्वासन् कि महान् नियम जिनसे भौतिक और आध्यात्मिक जगत् बना है वह उन्नति के मार्ग में चढ़ते हुए अधिक से अधिक ईश्वरीय गुणों को धारण करते जाएंगे। उत्क्रान्ति के नियम में दृष्टान्त रूप से कौनसी बात है, जो हमको इस बात का विश्वास दिलासके कि मनुष्यमात्र की मानसिक प्रेरणा और आशा की कभी पूर्ती हो सकेगी, और मनुष्य मात्र सदाचार, सहानुभूति और प्रेम के उच्च से उच्च शिखरों पर चढ़ता जाएगा? उत्क्रान्ति के नियम में वह क्या है जिससे हम भविष्य वाणि कर सकें कि बन्दरों के लहुलुहान युद्ध और क्रूरता-युक्त प्रेम अपने से उच्च अवस्था के प्राणि मनुष्य को ही बनाएंगे अपने से नीची अवस्था के प्राणिको नहीं, और उच्च अवस्था का प्राणि स्वाभाविक सदाचारी ही होगा, अथवा यह कि झगड़े, युद्ध, अजितेन्द्रियता, क्रूर शक्ति (जो सब व्यवहार द्वारा

अधोगति की तरफ ले जाएंगे उन्नति की तरफ नहीं) क्रूर मनुष्य की कभी सभ्य मनुष्य को जन्म देगी ? उत्क्रान्ति के नियम में वह क्या है जो हम को यह दूरदर्शिता सिखा सके कि बल के नियमपर जो जीवन संघर्ष पशु जगत् में है वह उन्नति करके धर्म का वह नियम बन सकेगा, जो मनुष्यसमाज में फैल रहा है और जो अन्तिम लक्ष्य है जिस की तरफ कि सभ्य से सभ्य जातियां अधिक से अधिक निकट आ रही हैं ? संक्षेप यह है कि उत्क्रान्ति के नियम में वह क्या है, जिस से अत्यंत क्रूरता से स्वतंत्रता, दासपन से स्वच्छंदता, अपस्वार्थपन से परोपकार, बल से धर्म, भय से आदर, कामातुरता से प्रेम, स्वप्रयोजन सिद्धि के झगडों से सदाचार और पुण्य; **ज़रूर ही** निकल सकें ? उत्क्रान्ति के नियम में कुछ भी नहीं जिस से ज़रुर ही यह निकल सकें, इस के विपरीत बुद्धि दूसरे ही मार्ग को दर्शाती है। अमुक बात ऐसे हो चुकी है, इस से भविष्य की उन्नति के लिये कोई आश्वासन् नहीं मिल सकता जब तक हम एक बात न करें अर्थात् यह कि हम उत्क्रान्ति **के नियम का आधार धर्म** को बनावें, अथवा जब तक कि हम यह न मानें कि सर्व पदार्थ एक

ज्ञानमय इच्छा शक्ति

के आधीन हैं, और प्रथम से ही यह भरपूर हो रहा है कि धर्म फूट निकलेगा, पुण्य की वृद्धि होगी, सत्य की जय होगी, सर्व प्रकार के अकस्मात्, संभावनाएं, मूर्खताएं चाहें वह पशुओं की हों अथवा मनुष्य की, उस को दबा नहीं सकेंगी, ठीक जैसे कि क्रूर अज्ञानी बन्दर उन्नति कर के मनुष्य तक पहुंचे हैं, और क्रूर मनुष्य सभ्य मनुष्य बना है (यद्यपि बुद्धि दूसरा मार्ग दिखाती

है, तो भी उच्च गुणों का विकाश हुआ), अतः वृत्तियों, स्वार्थ-पन और धन के झगड़ों से दैवी गुण विकास पाएंगे (जो कि गुप्त रीति से छुप गये थे) और उस भविष्य में प्रगट होंगे जिस में कि न्याय, सहानुभूति और प्रेम का अधिक प्रकाश होगा। सृष्टि के नियमों का ज्ञान हम को तब तक ही सुरक्षित करेगा जबतक कि हम उन के वशवर्ती और अनुकूलगामी होंगे, परन्तु इस ज्ञान से भविष्य के लिये हमें कोई आश्वासन् नहीं मिलता, यह बात इसपर से ही जानी जाती है कि यद्यपि सृष्टि के नियम हम को सिखाते हैं कि किस प्राणिसे मनुष्य बना **पर वह यह बात ज़राभी नहीं बतलाते कि मनुष्य से किस प्रकार का प्राणि आगे बनेगा** और जब तक वह यह न बतलावें, तो हम कैसे जानें कि आया मनुष्य अधिक उन्नत और श्रेष्ठ होगा अथवा अधिक क्रूर और नीच, संक्षेप यह है कि संसार की भावी उन्नति के लिये हमारे पास क्या आश्वासन् है ? सत्य तो यह है, कि यह **धर्म** ही है जिसका मन्तव्य यह है कि आदि प्रमाणुओं में ईश्वर व्यापक हो रहा है, उनमें ही जीव आत्मा हैं, उनका परिणाम अवश्य शुभ होना ही है (मैंडक, सांप, बन्दर, क्रूर मनुष्य के नीच स्वभावों के अतिरिक्त जिन में प्रमाणुओं ने जन्म लिया है मार्ग जाते हुए) वह मन्तव्य हम को निश्चय और आश्वासन् दिलाता है कि मनुष्यपन ज़रूर ही उच्च से उच्च दशा में पहुंचेगा, यह मन्तव्य सर्व बड़े कामों के लिये कितना आवश्यक है और जो प्रत्येक महान् आत्मा की उत्तेजना और शान्ति है। यह **धर्म** ही है, न कि उत्क्रान्ति का नियम, जो कि हम को संकट के समय में यह धैर्य्य बंधाता है कि यद्यपि जीवनके दुःख अनिवार्य्य हैं (कारण कि असीम इच्छाओं की पूर्णरूपसे पूर्ती एक ससीम और परिमित जगत्में नहीं

हो सक्ती) तो भी विधि सत्य और उपकारमय है, और सब वस्तुएं मिलकर भले के लिये काम कर रही हैं, और सत्य की जय कराने के लिये केवल समय ही चाहिये। हम दृढ़तासे कह सकते हैं कि धर्म ही है जो हमारी आध्यात्मिक, सदाचारी और मनोबृत्ति संबंधी स्वभाव को वह शान्ति देता है जो कि हमारे समावस्थित् और सर्व हितकर पुरुषार्थ के लिये आवश्यक है। यह अशान्त बुद्धि को, प्रत्येक जाति और प्रजा को अपनी उन्नत अवस्था के अनुकूल एक संतोषदायक उत्तर, वस्तुओं के कारण और वास्तविक स्वरूप देने से शान्त करता है।"

करोज़ियर महोदय के उस विचार से हम सम्मत नहीं जिसमें वह बन्दरों वा क्रूर मनुष्यों की सन्तान सभ्य और उन्नत मनुष्यों को दर्शा रहा है तो भी उसका आस्तिकवाद उत्तम है और जड़चेतन में भेद मानना ठीक ही है। यह स्वतंत्र विचार युरुप के विद्वानों के उत्क्रान्तिवादको बहुत कुछ अपनी जगहसे हिला रहे हैं यह प्रत्येक निर्पक्ष पाठक जान सकेगा॥

परिशिष्ट
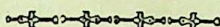
Extracts from

"Natural Selection and Natural Theology."

A criticism.

By. Eustace R. Conder D. D.

" Now a days unhappily Jelly fish produces nothing but Jelly fish. But had that gelatinous morsel been fated to live say a million of centuries earlier it might have been the progenitor of the race from which Homer and Plato, David and Paul, Shakespeare and our eminent Professor have in their order been evolved "

" The intelligent believer in a Creator I suppose imagines that each species of plant or animal was created *out* of *nothing*."

" At all events, if this be what is intended by " Independent creation of species " the first chapter of the Bible teaches nothing of the sort. Each creature is there represented as formed out of pre-existing material."

" If it could be shown that the thrush was hatched from the egg of a lizard.. ....Reason must deal with the facts before us. The bird with its nest and eggs, however they came about."

" If nature has worked in the past so energetically as to evolve all existing species, the same process ought to be taking place now; evolving before our eyes, if not new species at all events modifications tending to produce new species. It is ridiculous to say that the process goes on too slowly for us to detect it. Does it go on *at all*? "

Extracts from

" *Degeneration–A Chapter in Darwinism and Parthenogenesis.*"

BY

E. Ray Lankester M.A. L.L.D., F.R.S.

" In other fields, wherever in fact the great principle of Evolution has been recognised, Degeneration plays an important part. In tracing the development of language philologists have long made use of the hypothesis of Degeneration."

" High states of civilization have decayed and given place to low and degenerate states."

' It is well to remember that we are subject to the general laws of Evolution and are as likely to degenerate as to progress.' "As compared with the immediate forefathers of our civilization—the ancient Greeks-we do not appear to have improved so far as our bodily structure is concerned, nor assuredly so far as some of our mental capacities are concerned. ....The reiterated substitution of wrong for

right and of falsehood for truth which disfigure our modern civilization; are these evidences of progress ?"

Extracts from

" Darwinism and Politics."

By

David G. Ritchie M. A.

"We cannot be sure that Evolution will always lead to what we should regard as the greatest perfection of any species. Degeneration enters in as well as Progress.

It is by thinking alone that he can rise above the position of nature's slave.

Where God sends mouths he sends the food to feed them.

Rational selection will take the place of the cruel process of Natural Selection."

" This system of unchecked competiti on–one cannot repeat it too often—means a prodigal and fri ghtful waste. Some have to work too hard and too long others cannot get any work to do at all or get it irregularly and uncertainly."

Says Darwin, " I cannot see as plainly as others do, and as I should wish to do, evidence of design and beneficence on all sides of us. There seems to me too much misery in the world." (From a letter to Dr. Asa Gray in Life and Letters).

Extracts from

"The Development of Creation on the Earth."

By

Thomas Lumisden Strange.

Late Judge of the High Court Madras.

" To suppose that the whole is due to unintelligent agency, appears a mockery of the understanding."

" Every organized object on the earth vegetable or animal has equally its governing centre."

" A lobster or crab can reproduce a lost claw. Some of the inferior Vertebrata as lizards, can develop new limbs and new tails, when these are cut off, and this several times over (Herbert Spencer). A Salamander also can renew its limbs (Darwin. Descent of Man. II 385). In the superior forms the power is limited to repairing injuries, as in the junction of broken bones and the cicatrizing of wounds."

"Among the various Nations of the earth none possess historical traces which reach back to so remote a period as do those of the Eastern Aryans, (of whom I have treated specially in a separate work)."

" The doctrine of Evolution; that is the production of settled organized forms out of *shapeless matter*, is one very generally received but is coupled, by a certain class of students of nature, with the suggestion that one shape has grown out of another. Is

there no better conception of the process to be formed than this resting upon these hypothetical reasonings?

The theory that every living object has been produced from an antecedent germ which is true in the generality of current instances is sought to be applied to all. But the allegation meets with an insuperable difficulty still to be solved, when we go back in thought to the primeval germ producer. In what manner did this object come into being having no germ before it from whence to issue?

How the Infusoria are formed is a great question on which naturalists are far from agreed."

" The theory of Mr. Darwin, which has met with so much attention does not consist with the facts on which I have been building. He supposes that the various forms of life have been derived from one another, through graduated changes, so that the whole may at length be traced back to some one very humble primitive organization. But in the generation of the Infusoria we see, daily multitudes of very diverse forms brought into being, not necessarily derivatively, but also simultaneously and independently, and the stocking of the whole globe, in all its parts, however, unapproachably separated, with appropriate *flora* and *fauna*, also speaks of independent and not derivative creation.

Mr. Darwin's theory labours also under other serious objections of a character that should be fatal

to it. He has to beg his way at every stage, and, the necessary facts being wanting, to raise his system ever upon superstitious foundations. He wishes us to disallow any real distinction between varieties and species (Origin of species. 3rd Ed Pp. 54, 59, 61.) While the laws of hybridism ever place an effectual barrier between violent inter-mixtures thus marking the distinctiveness of species. Either from want of adaptation, or from aversion, the species do not cross with one another, or if they do, and have a progeny, it is infertile. Varieties on the other hand, intermix freely, and have fertile and even improving offspring. But if species are only varieties then Mr. Darwin hopes to make it clear that because we may effect a hundred varieties of apples, or of pigeons, an apple may be transformed into a pear, or a pigeon into a crow, and so onwards from stage to stage of conversion. The intermediate shapes are wanting, and, conveniently, he supposes them to have been exterminated (P. 194), and not even adequately preserved in fossilized condition (P. 197.) The close gradation of shapes has convinced him that the ape is the nearest link to man at the ultimate end of the chain, the *ascidian* being the first approximation to the vertebrates at the other end. But if all come from a primeval germ, and gradation of shape is to rule the conclusions, he must link on the vegetable kingdom to the animal, and even the mineral to the vegetable, the lines between these various orders being indefinable. His great instrument of change is what he terms natural selection; or the object seeking to better

itself. In this way fins may become legs or wings, as instanced by the **penguin** helping itself along upon shore with its water propellers, and the flying fish darting out of water and sustaining itself in the air by the spread of its lateral fins (PP 200, 201). We are entitled to figure to ourselves interminable generations of fishes struggling to clamber upon land, until at last some advanced specimens succeed, and, gradually controlling their gaspings, accustom themselves to prolong life on shore; after which, exercising with intent at improvement, their ill adapted members, they end by developing these into well-jointed limbs and whisking their scaly tails about, eventually fringe them with hair.

Extracts from

" Civilisation and Progress. "

By

John Beatie Crozier.

" Now seeing that the origin of things lies quite beyond our observation being buried in the recesses of the past, it is clear that his explanations only go to show how things might have arisen if the theory of Evolution were true, not how they actually have arisen. "

" The law of Evolution while representing nature as evolving from lower to higher organisms along a spiral line in which there is no breach of continuity at any point, is obliged at last to admit that the gulf

between matter and mind can not be bridged, and so stultifies its own pretensions to being a complete interpretation, the law of the Balances, on the contrary, represents nature as constructed on an identical plan throughout, its phenomena lying above one another in successive hierarchies, but does not pretend to bridge the unbridge-able or explain the inexplicable. The law of Evolution in representing the highest attributes of the mind as modes only of the attributes of matter, makes mind and matter in essence the same, and so runs counter to the intuitions of mankind; the law of the Balances represents them as different in essence and so preserves the hierarchy of nature and attribute among things, which is in harmony with our natural intuitions, and on which all our organised intelligence rests."

" Spencer admits that the law of Evolution is a direct *deduction* from the fact that the atoms of which the matter of the universe is composed exist in the polar forms of attraction and repulsion. It is therefore a deduction from the law of the Balances, and not the law of the Balances a deduction from it."

" But there is one thing which no knowledge of the laws of nature, however complete, can give, and that is the assurance that the great web of laws which make up the material and moral world, shall work upwards to divine and diviner issues. What is there in the law of Evolution, for example, which can give us guarantee that the inspiration and hope of hum-

anity shall be realized, and that mankind shall ascend to higher and higher stages of morality, and sympathy and love ? What is there in the law of Evolution that would have enabled us to predict that the bloody wranglings and brute loves of apes would give rise to *a higher* order of being-Man-rather than a *lower*, which would have been moral, natural; or that the confused fighting; the unregulated passions, the brute force (all of which, when indulged, should lead downwards and not upwards) of the savage man, should give rise to the civilized man ? What is there in the law of Evolution that would have enabled us to foresee that on the law of might—the struggle for existence—which prevails in the animal world, would work itself up into the law of right, which prevails among mankind and is the goal towards which the civilized races are more and more approximating ? In a word, what is their in the law of Evolution that would *necessitate* that out of fierce despotism should come forth liberty ; out of slavery, freedom ; out of selfishness, unselfishness; out of might, right; out of fear, reverance; out of lust, love; out of the conflicts of self interest, morality and virtue ? There is nothing whatever in the law of Evolution to necessitate it; on the contrary, all reason points the other way. The fact that it has been so, can give us no security for future advance in the scale of being, except on one condition, and that is that we under pin the law of *Evolution with Religion* that is to say, unless we believe that things are under

an intelligent *Will*, and are so loaded from the first, that the right will emerge, the good be forwarded, the true prevail, inspite of all accidents, possibilities, or stupidities whatever, animal or human; that, just as brute unconscious apes have mounted upto man, and savage man upto civilised (the finer qualities emerging inspite of all reason to the contrary) so from the strife of passions, self interests, and dollars, the divine will emerge (having been mysteriously slipped in) and will appear in a future yet more glorious and radiant with justice, sympathy and love. Knowledge of the laws of nature will indeed give us security so long as we conform to and obey them; but that such knowledge can give us no assurances for the *future*, may be seen in the fact that although the laws of nature teach us from what creature *Man* has sprung, they cannot throw the least light on what kind of a being will come out of *Man* and unless they can do this how do we know whether *Man* will become higher and more noble, or brutal, and more base; in a word what security have we for the future progress of the world ? The truth is, it is *Religion* that, by its conviction that the original atoms are so loaded with Deity, so freighted with Soul, so predestined to divine issues (inspite of the number of base natures—frogs, serpents, apes, savages—in which these atoms have been incarnated by the way), gives us assurance and guarantee that Humanity will, and must, rise to higher and higher realms of being ; a conviction so indispensable to all

great action, and which is the inspiration and solace of every lofty spirit. It is Religion, too, and not the law of Evolution, that consoles us in the hour of defeat with the conviction, that, although the ills of life are unavoidable (for unlimited desires can never be fully satisfied in a *limited* and finite world), still, the plan is right and beneficient, that all things work together for good, and that time alone is needed to secure the triumph of the right. We may affirm that Religion gives that *harmony* to our intellectual moral, and emotional nature, which is necessary to its balanced and harmonious activity. It stills the unrest intellect by giving to each nation and people, according to its stage of culture, a satisfactory explanation of the cause and origin of things. "
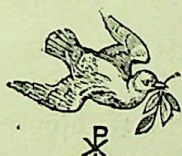
द्वितीय अध्याय
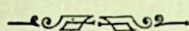
डारविन महोदयके उत्क्रान्तिवादके विरुद्ध जो युरुपके बड़े बड़े विद्वान् मत रखते हैं उनके सूक्ष्म विचारोंकी वानगी हम प्रथम अध्यायमें दर्शा चुके हैं। इनके अतिरिक्त इसी श्रेणीमें Carlyle (कारलाइल) Carpenter (कारपेंटर), Duke of Argyle (ड्यूक आफ आरगाईल) John Gerard (जौहन जिरार्ड) Adam Sedgwick (आदम सेज्जविक) Blanchard (ब्लेंच्चर्ड) Wigand (वाईगेंड) Wolff, (वुल्फ) Hamann (हमान), Von Hartmann (वॉन-हार्टमैन) इत्यादि अनेक प्रसिद्ध नाम लिखे जा सक्ते हैं।

भारतवर्षमें आजकल महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती पहिले भारतीय विद्वान् हैं जिन्होंनें अपने प्रचारमें रुड़की स्थानपर हरिद्वारके निकट पण्डित उमरावसिंह आदि अनेक अंगरेज़ीके विद्वानोंके संशय मिटाकर उनके सन्मुख डारविन मतका खंडन किया।

उनके पश्चात् महात्मा श्री पण्डित गुरुदत जी एम. ए. सायेंस प्रोफेसर गवर्नमेण्ट कोलेज लाहौर (पंजाब) ने ईशोपनिषद् की अद्भुत व्याख्या करते हुए डारविनमत तथा वर्तमान पाश्चात्य नास्तिक पन का अंगरेज़ी में सार गर्भित और भाव पूर्ण खण्डन किया जिसको प्रथम अंगरेज़ी में देकर फिर उसका भाषा अनुवाद दिया जाता है॥

" Many are the victims of Ignorance and direful are the forms it assumes. One of them is what may, for want of a better name, be called scientific atheism.

This is a belief in the omnipotence of atoms. The externally-minded scientific man, whose mind is replete with conceptions of matter and motion, with dynamical and mechanical explanations, ever true to his instinct of never believing anything except on the testimony of his senses, begins the task of crude analysis. He dissects organised structures, nerves, muscles and tissues, and re-dissects, but throughout all the labyrinths of the brain, all the complicated network of veins and arteries, he finds no trace of an intelligent God, all is motion or matter in motion. He begins his physiological researches and ends in chemical and nervous action everywhere. Again he leaves the organic department of nature, and analyzes and decomposes, and again analyzes and decomposes each solid and liquid and gas, now in a crucible, then in a retort, now by means of heat, and then by means of electricity, here with re-agents, and there with reactions, but meets everywhere with atoms, their affinities and valencies, but nowhere with God. On the *positive* evidence of *direct* observation, and from the *infallible* platform of *personal* experience, with his head raised in the *proud* majesty of *knowledge*, and his spine straightened with the *nervous* energy of *natural* forces, he bids farewell, a last farewell to the barbaric dogma of a belief in the existence of an intelligent, all pervading, all moving principle. His belief in the potency of atoms is boundless. They are *unanalyzable, undecomposable, simple monads, uncreated* eternal in their existence, endowed (not by anything else,

but naturally through necessity of existence) with inconceivable motions. In the vast *chaotic* operation of these atomic forces, specific atoms met through accident and selection, united together, assumed a *temporary* organization, exhibiting signs of breathing conscious life. This germ of life, on account of wholly unexpected and incomprehensible circumstances, under favorable conditions, (favorable through chance or selection) propagated itself and multiplied. Great was the *struggle for existence* then raging Many fortunately organized beings were, in the course of this struggle, again hurled back into the atomic chaos whence they sprung. This is *extinction.* But some fortunate organizations (fortunate, not through merit or desert, nor through design, but fortunate *somehow*) survived this diresome catastrophe, and prospered, Their organization modified and developed new organs, and remodified and redeveloped, till man appeared on the stage. Now man, this man, the product of fortuitous combination of atoms, with his heated brain, exudes entirely unsupported doctrines of immortality and Providence. Can a sensible man believe such dogmas ? Vain are thy efforts, O theologian ! to construct an edifice of religion on the foundation of sand. **Human race, as a race, may for long ages to come, survive**, but individual man shall only go back to the vile dust from whence he sprung.

Such is *Scientific atheism.* All is uncertain and unreliable. Life is but an accidental spark produced by

the friction of mighty wheels, the blind whirling motion of which constitutes the phenomena of the universe. There is no hope of futurity, no consolation for oppressed virtue or disappointed justice, hereafter. A natural result of which is that the worshipper of *omnipotent atoms*, dashed head long into a sea of unrighteousness and immorality, tramples all justice without a pang, suppresses all virtue without a sigh, and over the wreck of all that is noble and elevating in human nature builds his philosophy of *desperate-ism.* He is desperate in his actions, desperate in his feelings. Or perchance his is a philosophy of *resignation.* Desperate or resigned, *there* are the signs of brutal violence to human nobility rendered, and as is the case of all violence rendered to human nature, the subject is agitated, disturbed, listless, meloncholy, petrified or simply unconscious of himself. Miserable, though, is this extreme form of scientific atheism there is a softened form of it, however, which is compatible with a certain and a very high degree of morality. For, there is in the scientific atheist, a strong belief at least, in the unchangeable, and immutable laws of nature or of the order of Nature. He is not superstitious. In the world of effects, at least, he is a master. Miserable and disturbed as his life of the interior may be, his external life is, no doubt, a complete success.'

अर्थः—बहुत से अविद्या के वशीभूत हैं और इस (अविद्या) के स्वरूप बहुत भयंकर हैं। उनमें से एक स्वरूप को उत्तम

नाम न दे सकने से हम विद्याभिमानमय नास्तिकपन कह सकते हैं। यह नास्तिकपन परिमाणुओं के सर्वशक्तिमान होनेका विश्वास है। वाह्य मानसिक दृष्टिवाला विद्याभिमानी जन जिसका मन प्रकृति और गति तथा शक्तिमय और यांत्रिक व्याख्याओं से भरपूर है, जो अपने स्वभाव से विवश हो कर किसी ऐसी वस्तु को भी मानने के लिये तैयार नहीं सिवाय उसके जिस की साक्षी उसकी इन्द्रियां दें, वह पृथक्करण के साधारण काम को आरम्भ करता है। वह अंगमय शरीरों, नसों, पट्ठों और परदों को चीरता है और पुनः चीरता है परन्तु दिमाग के सर्व चक्रों, हृदय की तरफ रक्त लानेवाली और हृदय से शरीर में रक्त ले जानेवाली, सर्व नाड़ियों के उलझे हुए जाल में वह एक ज्ञानमय ईश्वर का कोई खोज नहीं पाता, सब ही गति है अथवा प्रकृति गति अवस्था में, वह जीवन विद्या सम्बंधी अपनी गवेषणाएं आरम्भ करता और रसायनिक तथा नस सम्बन्धी शक्ति को सर्वत्र पाता है। पुनः वह सृष्टि की अंग-मय रचना छोड़ देता है और पृथक्करण तथा अति छेदन का काम आरम्भ करता है और पुनः प्रत्येक कठिन द्रवीभूत और वायव्य पदार्थ को कभी कोठाली में, कभी शीशे के भवके में, कभी आंच दे कर कभी विजली का उपयोग कर, एक जगहपर तेज़ाब के साथ और दूसरी जगह प्रत्याघात की रीतिसे पुनः पुनः छेदन भेदन करता है। तो भी सर्वत्र वह प्रमाणुओं को, उन के संयोग बल और परस्पर मिलने की शक्ति को अनुभव करता है पर ईश्वर कहीं नहीं पाता। प्रत्यक्ष अवलोकन के निश्चित प्रमाण के आधार और निज परीक्षा के निर्भ्रान्त उपदेशासन पर से अपना शिर विद्याके भारी अभिमान से ऊंचे किये हुए और अपनी रीढ़ स्वाभाविक शक्तियों के नसरूपी बल से तान कर, वह **एक ज्ञानमय, सर्वव्यापक**

सर्वशक्तिमान् नियम की सत्ता में विश्वास के जंगली सिद्धान्त को अन्तिम तिलांजलि देता है। परमाणुओं की शक्ति में उसका अत्यंत विश्वास है। यह पृथक्करण से रहित, अछेद्य, अभेद्य, उत्पत्ति रहित, और सत्तामें नित्य हैं, किसी अन्य पदार्थ से इनमें नहीं किन्तु स्वाभाविक स्थिति की आवश्यकता के कारण, अचिन्तनीय गति से भरपूर हैं। इन परमाणुओं की शक्तियों के महान् अनियमित कार्य में, विशेष परमाणु अनायास और निर्वाचन द्वारा इकट्ठे मिल गये और एक अस्थायी शरीर धारण किया जो कि श्वासन क्रिया से चैतन्य जीवन के चिन्ह प्रगट करता था। जीवनका यह बीज सर्वथा अचिन्तित और अगम्य दशाओं के कारण, अनूकूल अवस्थाओं में (अनूकूलता का कारण आकस्मिकपन अथवा निर्वाचनपन था) वृद्धि को प्राप्त हुआ और सन्ततिवान् हुआ। उस समय जीवन के लिये महान् संघर्ष चल रहा था।

इस संघर्ष के मध्यमें बहुत से भाग्यशाली शरीर पुनः परमाणुओंकी अनियमित अवस्था में जहां से वह उत्पन्न हुए थे पीछे धकेले गये। यही विनाश है। परन्तु कई भाग्यवान् शरीर (भाग्यवान् होने का कारण, योग्यता वा गुण न था, नाहीं कोई नियम था परन्तु किसी कारण से भाग्यवान् थे) इस भयङ्कर दुर्गति में जीवित रह गये और फले फूले। उनके शरीर परिवर्तित हुए और उनमें नये अङ्ग निकले और पुनः परिवर्तित हुए और पुनः नये अङ्ग निकले यहां तक कि मनुष्य रङ्गभूमि पर प्रगट हुआ। अब मनुष्य, यह मनुष्य जो परमाणुओं के यदरिच्छा संयोग का उद्भव है अपने गरम दिमाग से आत्मा और परमात्मा के अमर होने के अपुष्ट सिद्धान्तों को सर्वथा पसीने की तरह निकालता है। क्या एक बुद्धिमान् मनुष्य

ऐसे सिद्धान्त मान सकता है ? हे धर्मशास्त्री रेतीली नींव पर एक धर्म मन्दिर बनाने के तेरे प्रयत्न निष्फल हैं। मनुष्य जाति, जाति के रूप में आगामी युगों में जीती रहेगी, किन्तु व्यक्तिगत मनुष्य केवल तुच्छ मट्टी में जहां से वह उत्पन्न हुआ है पीछे जा मिलेगा॥

यह विद्याभिमानमय नास्तिकपन है। सब कुछ अनिश्चित् और विश्वास के अयोग्य है। जीवन केवल एक आकस्मिक चंगारी है जो कि बड़े चक्रों के संघर्षण से उत्पन्न हुई, जिनकी ज्ञान रहित घूमने वाली गति, विश्व के दृश्य को बनाये हुए है। भविष्य की कोई आशा नहीं, मरकर, पीड़ित पुण्य अथवा आशारहित न्याय के लिये कोई आश्वासन् नहीं। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि सर्वशक्तिमान् परमाणुओं का पुजारी असत्य और पाप के समुद्र में सिर के बल गिरता है, सब न्यायको करुणा रहित होकर, पैर तले रौंदता है और सर्व पुण्य को विना खेद के दबाता है और मनुष्य स्वभाव में जो कुछ उत्तम और उन्नतिप्रद है उसकी चिता पर निराशवाद घड़ता है। वह अपने कार्य्यों और भावों में निराश है, अथवा उसकी चर्चा त्यागवाद है। आशारहित अथवा त्यागी होनेमें मनुष्यकी श्रेष्टता को पाशविक अत्याचार से कलङ्कित करने के चिह्न हैं, और मनुष्य स्वभाव को अत्याचार से कलङ्कित करने वाली दशा में जैसा कि होता है, विषय पर चर्चा चलाई जाती है, विघ्न उपस्थित किये जाते हैं, मौन युक्त उदासीनता पत्थरवत् बनाई जाती है अथवा मनुष्य अपने आपको भूल जाता है। यद्यपि विद्याभिमानमय नास्तिकपनकी अन्तिम सीमा का यह दुःखदायी स्वरूप है, तथापि इसका एक मध्यवर्ती स्वरूप भी है, जो एक विशेष और उच्च शुद्धाचार के नियम के अनूकूल है, क्योंकि विद्या-

भिमानमय नास्तिक के मन में, न्यूनसे न्यून एक दृढ़तर विश्वास सृष्टि के नियमों अथवा सृष्टिक्रम के अटल और अखण्ड होने का है। वह मिथ्या विश्वास करने वाला नहीं है। कार्य्य जगत् में न्यून से न्यून वह प्रवीण है। उसका आभ्यन्तरिक जीवन, चाहे कितना दुःखदायी और विघ्नमय हो उसका बाह्य जीवन निःस्सन्देह पूर्ण सिद्धि का रूप है ॥

महर्षि स्वामी दयानन्द अंगरेजी भाषा के विद्वान् न थे पर वेद, उपवेद, वेदाङ्ग, और उपाङ्ग के धुरन्धर पण्डित होने के अतिरिक्त तपस्वीयोगी होने के कारण अन्य सब ऋषियों के समान वेदों के मंत्रों के अर्थों के यथार्थ दर्शन करते थे और आर्षग्रन्थों के मर्म को यथार्थ रूप से जानते थे। यही तो कारण है कि उन्हों ने अपनी आवाज़ डारविनमत के विरुद्ध रुड़की में उठाई और जहां जहां जनता ने डारविनमत संबंधी प्रश्न किये उनको उत्तर देकर वैदिक सिद्धान्त दर्शाया। उनके उपदेशों का सार यह है कि आदि सृष्टि अमैथुनि होती है और आदि सृष्टि में आदि ऋषियों को ईश्वर ने सर्व विद्याओं के मूलरूपी भंडार सत्यविद्या का दान दिया जो कि शब्द अर्थ के संबंधरूपी–निर्भ्रान्त–ज्ञान वेद के नाम से प्रसिद्ध है और ऋग्, यजु, साम और अथर्व जिस के चार भाग हैं ॥

महर्षि गौतमजी के न्याय दर्शन का यह सूत्र है कि

समान प्रसवात्मिका जातिः।

(न्यायदर्शन २-२-७१).

सूत्र कैसा सारगर्भित, भावपूर्ण और उत्तम है? मानो सागर को गागर में भरा है इसका भावार्थ यह है कि

जो व्यक्तिएं मिलकर अपने समान संतति को उत्पन्न कर सकें उनके समूह को जाति कहते हैं ।

इस सूत्र को रचने से पूर्व, **महर्षि गौतम** को वेदों के पूर्ण पण्डित होने के अतिरिक्त न मालूम कितनी तपस्या समाधि दशा तक पहुंचने के लिये करनी पड़ी होगी ?

आज से न मालूम कितने सहस्त्र वर्ष पूर्व ऋषि ने उस वैदिक व आर्ष सिद्धान्त की प्रेरणा कर दी, जिस की आवश्यकता आज युरुप की पण्डित मंडली को अनुभव होने लगी । हमने देख लिया है कि स्ट्रेंज आदि अनेक पश्चिम के महा विद्वान् आज डारविन मत में बड़ा भारी दोष यही दर्शा रहे हैं कि भिन्न भिन्न जातियों की व्यक्तिएं यदि संतान् उत्पन्न करें तो वह सन्तान् आगे **अपने समान संतति** को उत्पन्न नहीं कर सकती । जैसा कि खच्चर आदि ।

डारविन मत का मूल सिद्धान्त क्या है ? केवल इस कल्पना की व्याख्या है कि भिन्न भिन्न जातियों के प्राणि मिल कर आगे नए नए वंश चलाते गये, पर जिसका एक भी दृष्टान्त पृथिवीपर नहीं मिलता । गौतम ऋषिने जो जाति का लक्षण किया है उस के दृष्टान्तों से संसार भर रहा है । गौतम ऋषि के पास वेदप्रकाश और समाधिबल था जो दो बल डारविन महोदय के पास न थे ।

डारविन महोदय के मत को अपनी जगहसे हिलाने वाले अनेक भारी विद्वान् पश्चिम में उत्पन्न हो गये हैं, पर भूगोल पर एक भी विद्वान् नहीं है, जो ऋषि गौतम को अपनी जगह से **हिला सके** ।

डाक्टर आसाग्रे को एक पत्र में डारविन महोदय ने लिखा था कि मैं सृष्टि में नियमपूर्वक रचना नहीं पाता और ऐसे ऐसे विचारोंसे उत्क्रान्तिवाद के साथ नास्तिकवाद भी फैल गया।

Modern Science and Modern Thought के कर्ता Samual Laing (सेमुअललैंग) इस बात को मान रहे हैं कि हमें जीवात्मा के विषय में पूर्ण ज्ञान नहीं है। यद्यपि हरबर्ट स्पेन्सर ने एक शक्ति को माना है जो विश्व को शासन कर रही है पर तिसपर भी युरुपादि में अभी नास्तिकपनकी मात्रा का अधिक प्रचार है। कई लोग पुराने ऋषियों के विषय में यह कह दिया करते हैं कि जीव, ईश्वर के कल्पित सिद्धान्तों से उन के शास्त्र भरे हैं, उन्हों ने शरीरों को चीर फाड़कर कहीं ऐसे ऐसे अन्वेषण किये होंगे जो कि वर्तमान काल में पश्चिम में किये जाते हैं? हम मानते हैं कि हमारी अपेक्षा वर्तमान काल में युरुप अमेरिका के विद्वान् शल्यविद्या (Surgery) में बहुत ही आश्चर्यकारक उन्नति किये हुए हैं, पर पुराने ऋषि सुश्रुतादि के समय में इस प्रकार की उन्नत अवस्था में थे तबही तो पुराने ऋषियों ने शरीर के पांच कोश वतलाए हैं, नहीं तो पांच कोश के भेद वह अपने ग्रन्थों में कैसे लिख सकते? आज Biology (प्राणीशास्त्र) के पण्डित (Earthworm) कीट,* मैंडक, खरगोश, सांपादि अनेक प्राणियों के छेदन भेदन से यह बातें दर्शाते हैं कि इनमें निम्नलिखित वस्तु पाई जाती हैं.

---

* See 'The Earthworm' by Dodany. S. A. author of Aids to Chemistry. Page 8. Published and sold by Messrs Jaideva Bros. Karelibagh, Baroda.

1. Cœlom or Body Cavity.
2. Alimentary Canal.
3. Vascular system.
4. Respiratory system.
5. Excretory system.
6. Nervous system.
7. Sense Organs.
8. Reproductory system.
9. Development.
10. Locomotion.

और अन्त में इनके प्रयोगों से यह भी सिद्ध होता है कि प्राणि की मूर्छा के पश्चात् उस के

हृदयअंग

में कुछ मिनिट कभी कभी घंटों तक गति होती रहती है।

मेंडक का हृदय कभी कभी पांच घंटों तक क्लोरोफार्म दिये पीछे चलता रहता है। मनुष्य को जब क्लोराफार्म सूंघाते हैं तो उसका ज्ञानतंतु मूर्छित हो जाता है पर हृदय की मंद गति बराबर रहती है इस से पाया जाता है कि जीवात्मा का विशेष संबंध हृदय से है और यही बात यजुर्वेद अध्याय ३४ मंत्र ६ में यह कह कर दर्शाई है किः—

हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥

य० अ० ३४ मं० ६

जब इस देशमें ऋषिलोग छेदनभेदन की क्रियाएं करते थे तब ही वह इन उक्त सब बातों का कथन कर सके अर्थात्

१. इस शरीर में पांच कोश हैं

२. हृदय जीव का निवास स्थान है (यजुर्वेद अ० ३४ मं० ६)

पूर्व इसके कि हम यह दर्शाएं, कि क्यूंकर " पंचकोश " का वर्णन Biology (प्राणीशास्त्र) के छेदनभेदन प्रयोगों से, उपलब्ध ज्ञान का दूसरा रूप है, हम एक दृष्टान्त देना चाहते हैं, जिससे यह बात सहज से सब कोई समझ सकेगा। एक कमरे में १०० अनार रखे हुए हैं। एक मनुष्य इन अनारों को २०×५ इस प्रकार पांच विभागों में कमरे के अन्दर रखता है दूसरा मनुष्य (१०×१०) दस दसकी ढ़ेरी में रखकर उनकी १० श्रेणिएं बना देता है। पहिले ने इनको पांच भागोमें विभक्त किया दूसरे ने १० में, सच्चे दोनों हैं पर क्रम प्रत्येक का पृथक् पृथक् है।

ठीक इसी प्रकार आजकलके पाश्चात्य पण्डित एक Earth-worm (कीट) व Frog (मेंडक) के शरीर को युक्तिपूर्वक चीरने से जो उपरोक्त दश संख्या में उसको विभक्त करते हैं, यही संख्या पुराने ऋषियों के पांच कोशोंके अन्दर भली प्रकार समाजाती है।

१. Cœlom (सीलोम) भोजनवाहिनी नालिकाकी सहचरा नाली.

२. Alimentary Canal (एलिमेन्टरी केनाल) भोजनवाहिनी नालिका

३. Development (डिवेलपमेन्ट) अन्तरीय शरीर वृद्धि

४. Locomotion (लोकोमोशन) गति संबंधी भाग

उक्त चारों भागोको ऋषियों का एक

अन्नमयकोश

समावेश कर लेता है ।

५. Respiratory System (रिस्पाइरेटरी सिस्टम) श्वासन क्रिया विभाग

६. Vascular System (वैस्कुलर सिस्टम) रक्तवाहिनी-भाग जो सर्वत्र शरीर में रस पहुंचाता है। अतएव ५ तथा ६ यह भाग

प्राणमयकोश

में समावेश हो जाते हैं.

७. Nervous System (नर्वस सिस्टम) नस विभाग यजुर्वेद अ० २५ मंत्र ७ में इसको शकपिंड कहा गया है मन तक सुखदुःख पहुंचाने का यह साधन है तथा

८. Reproductory System (रिप्रोडक्टरी सिस्टम) जननेन्द्रिय संबन्धी भाग, यह कर्मेन्द्रिय का भाग होने से और

९. Excretory System (एक्सक्रीटरी सिस्टम) मल-मूत्र त्याग भाग, इनका भी उपस्थेन्द्रिय इत्यादि से संबंध होनेसे यह ७, ८ तथा ९ भाग

मनोमय कोश

में समावेश हो जाते हैं.

१०. Sense Organs (Intelligence) (सेन्स ओरगन्स) ज्ञानेन्द्रिय इस दशम भागका

विज्ञानमय कोश

में समावेश होता है क्योंकि इसमें श्रोत्र नासिका इत्यादि आते हैं

११. Hibernation (हाइबरनेशन) गाढ़निद्रा

इसका **आनन्दमय कोश** में समावेश होता है क्योंकि इसमें सुखदुःख नहीं मालूम होता ॥

सत्यार्थ प्रकाशके नवम समुल्लास में इनकोशों संबन्धी इस प्रकार लिखा है ॥

" **अन्नमय** " जो त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त का समुदाय पृथिवी मय है, दूसरा " **प्राणमय** " जिसमें " प्राण " अर्थात् जो बाहर से भीतर आता " अपान " जो भीतरसे बाहर जाता "समान" जो नाभिस्थ होकर सर्वत्र शरीर में रस पहुंचाता " उदान " जिस से कण्ठस्थ अन्नपान खैंचा जाता और बल पराक्रम होता है "व्यान" जिससे सब शरीर में चेष्टा आदि कर्मजीव करता है तीसरा " **मनोमय** " जिसमें मनके साथ अहङ्कार, 'वाक् पाद, पाणि, वायु और उपस्थ पांच कर्म इन्द्रियां हैं, चौथा " **विज्ञानमय** " जिसमें बुद्धि, चित, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र जिह्वा और नासिका ये पांच ज्ञान इन्द्रियां, जिन से जीव ज्ञानादि व्यवहार करता है, पांचवां " **आनन्दमय कोश** " जिसमें प्रीति प्रसन्नता न्यून आनन्द अधिक आनन्द और आधार कारण रूप प्रकृति है।

Earthworm, जिसको उत्तर हिंद में घेंसा और पंजाब में गंडोया कहा जाता है उस को Biology (प्राणिशास्त्र) के पारिभाषिक शब्दों में "Perichœta" " पेरीकीटा " कहते हैं

जो कि निस्संदेह संस्कृत शब्द

परीकीट

का रूपान्तर है। एक समय था जब कि भारत ऋषियों ने प्राणि शास्त्र का मर्म समझा हुआ था और उस मर्म को पांच कोशों के नाम से संस्कृत ग्रन्थ आज तक लिख रहे हैं।

क्लोरोफार्म द्वारा, मैंडक, आदि प्राणियों पर छेदन भेदन का अभ्यास करने से बड़े बड़े दक्ष डाक्टर मनुष्य शरीर के शास्त्रोक्त शल्यक्रिया से भी उक्त पांच कोशों पर ही पहुंचते हैं।

हमारे दर्शन शास्त्रों में चेतन को जड़ जानना अविद्या कहा गया है पर अरनेस्ट हकील* ने Riddle of the Universe (सृष्टि का रहस्य) नामी पुस्तक लिखकर जड़ चेतन को एक जड़ ही माना है। Monism (एकवाद) जिसका वह प्रचारक है वह सिवाय इसके क्या है कि जड़ चेतन सब को जड़ ही कहे। ईश्वर को तो वह मानता ही नहीं।

आर्य शास्त्रों में प्रकृति को सत् कहा गया है और यह बात हकील, डारविन आदि सभी नास्तिक मत प्रचारक महोदय मान रहे हैं। पर जीवात्मा को हमारे शास्त्रों में

सत् चित्

कहा गया है। न ही डारविन महोदय और न ही उसका चेला हकील महोदय यह मानता है। चेतनता वा ज्ञान को हकील जड़विकार ही दर्शा रहा है। यह उसका भ्रम है। हम देखते हैं कि चुंबकमणि लोहे को अपने पास खैंचती है।

---

* Ernest Haeckel.
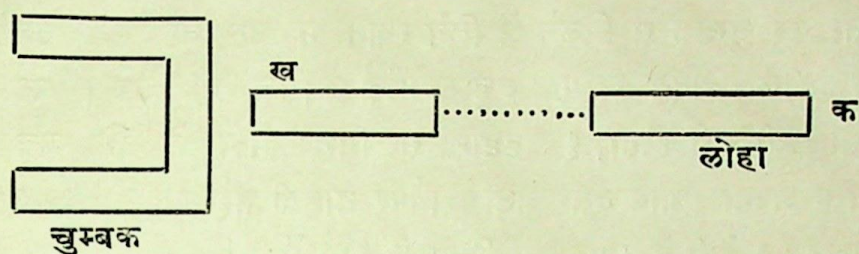
चित्र संख्या १.

देखो इस चित्र (सं० १) में लोहा स्थान क से आकर्षित् हो कर चुम्बक के साथ लग जाने के लिये स्थान ख पर पहुंचता है। यदि मार्ग में एक पत्थर रख दें तो लोहे में यह शक्ति कभी नहीं आ सकेगी कि उस पत्थर को उलांघ कर चुम्बक से जा मिले।

चित्र संख्या २ द्वारा हम यह बात स्पष्ट करेंगे—
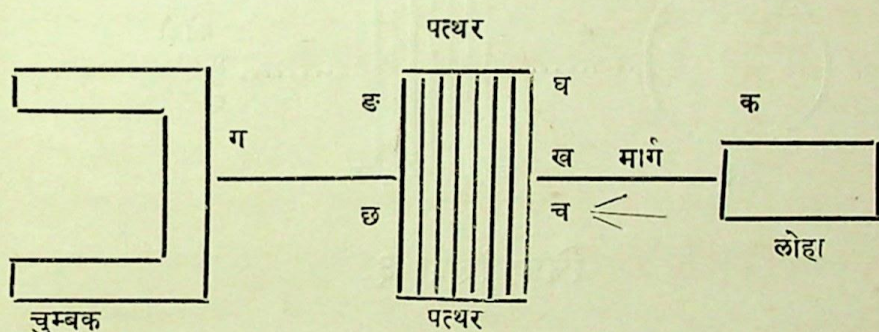
चित्र संख्या २.

इस चित्र में लोहा स्थान क से आकर्षित् हुआ खिंचा आ रहा था, मार्ग में स्थान ख पर एक पत्थर पड़ा है। तो लोहा ख स्थानपर पहुंच कर पत्थर से लगा हुआ स्थिर है। यदि यह घ-ङ वा च-छ का मार्ग तालाश कर ले वा पत्थर के ऊपर से चढ़, नीचे

उतर कर चुम्बक से मिलने के लिये स्थान ग पर जा सके तब तो हकील महोदय का एक जड़ पदार्थवाद सिद्ध हो सके। पर ऐसा कभी नहीं होता, इस दृष्टान्त से सिद्ध होता है कि जड़ शक्ति अपना प्रभाव दूसरे जड़ पदार्थपर डालती हुई उस में क्रिया उत्पन्न कर देती है। पर उस क्रिया के मार्ग में यदि कोई पदार्थ प्रतिबंधक हो तो दूर कर अपने केन्द्र स्थल वा लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकती। इस के विपरीत हम एक चेतन सत्ता बोधक चित्र दर्शाएं गे जिस से विदित होगा कि " सत्-चित् " शक्ति इस के विरुद्ध विघ्न वा प्रतिबंधकों को उल्लांघ वा जीत कर अपने लक्ष्यपर पहुंच जाती है।
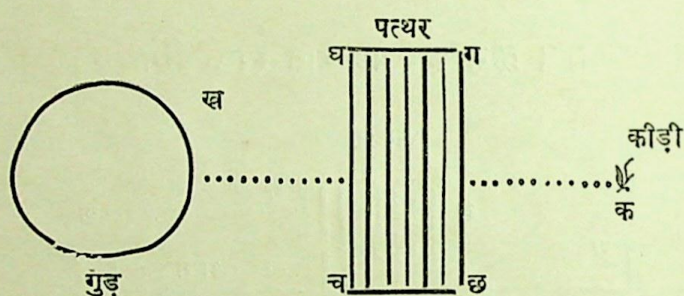
चित्र संख्या ३.

स्थान क पर एक कीड़ी (चींटी) है। स्थान ख पर गुड़ रखा हुआ है और मार्ग के बीच में गघ, च छ नामी एक पत्थर है। कीड़ी को गुड़ की गंध रूपी आकर्षण स्थान क पर मालूम हुई वह पत्थरपर आकर उस को अपने कद से १०० गुणा बड़ा पाती है पर वह पत्थर के साथ आ कर चमट कर लोहे के समान चुप बैठ नहीं रही, किन्तु वह पत्थर के ऊपर चढ़ उसपर से नीचे

उतर स्थान ख पर जहां उस के आकर्षणका केन्द्र वा लक्ष्य है पहुंच ही जाती है। यदि लोहे की गति जड़ गति थी तो इस को अजड़गति (चेतन की गति) मानना ही पड़ेगा। जड़ की गति अंध गति है तो चेतन की गति ज्ञानमय है। कीड़ी को यह अकल कहां से आई कि मैं पत्थर को उलांघ कर वा उस पर से मार्ग तालाश कर अपने लक्ष्य पर जाऊं। छतपर छींका लटकाकर हम उसमें शक्कर रखें। कीड़ी (चित्त शक्ति) को उस के पास जाना है वह दीवाल पर चढ़ जाती है वहां से छतपर फिर ठीक छींके की रस्सीपर पहुंच कर अपने लक्ष्यपर जा ही पहुंचती है। जड़ शरीर जो कि सत् है, " सत्–चित् " शक्ति के आधीन हो कर इस चेतन शक्ति के अनुसार कार्य्य करता है। ईश्वर सर्वव्यापक अनन्त चेतन शक्ति होने के अतिरिक्त आनन्दमय भी है। इसी लिये संस्कृत में ईश्वर को,

सत्

चित्

आनन्द स्वरूप

कहते हैं। जिसप्रकार चुम्बक की सत्ता मात्र से लोहे में गति आजाती है उसी प्रकार ईश्वर की सत्ता मात्र से विश्व में गति फैल रही है। जिस प्रकार जीवात्मा की सत्ता मात्र से हृदय गति करता है उसी प्रकार ईश्वर की सत्ता मात्र से ब्रह्मांड गति कर रहा है। भारतभूषण श्री पण्डित जे. सी. बोस प्रसिद्ध विज्ञानी ने युरुप में जाकर सिद्ध कर दिखाया है कि वनस्पति **उपचय, अपचय** उन दो गतियों से युक्त होती है जिन को कि हम मनुष्य वा पशुओं के हृदय में पाते हैं। इनको बोसमहोदय (Responses) कहें पर

वास्तव में यह " उपचय, अपचय " हृदय के दो धर्म हैं जो फैलने वा सुकड़ने के साधारण शब्दों में कहे जासकते हैं। क्यों बनस्पति में यह गति है? इसका उत्तर मनु महर्षिने मानवधर्मशास्त्र के प्रथम अध्याय में यह दिया है कि वह सजीव है। और मनु महर्षि के इस सिद्धान्त को कि बनस्पति सजीव है, बोस महोदय ने सिद्ध कर के युरुप को चकित कर दिया है। जहां जहां शरीर हैं उनका धारक जीव है। उसकी सत्तामात्र से हृदयगत उपचय, अपचय, प्राण अपाण आदि अनेक क्रियाएं जहां शरीर में होती हैं वहां उस का

ज्ञान

वा चित् शक्ति उन क्रियाओं के मार्ग में जो विघ्न हैं उन को दूर करती और अनुकूल को पास लाती वा प्राप्त करती है। इसी को संस्कृत के भाव पूर्ण शब्दों में " इच्छा, " "द्वेष" और "प्रयत्न" का नाम देते हुए इन को आत्मा के लिङ्ग (चिन्ह) कहा गया है।

जिस प्रकार शरीर में आत्मा अपने सत्–चित् होने का परिचय दे रहा है उसी प्रकार विश्व में ईश्वर सृष्टि की प्रयोजन पूर्वक, उपयोगी, रचना से सत् चित् और आनन्द मय होने का परिचय दे रहा है। पेले* साहिब ने Natural Theology (स्वाभाविक ब्रह्म विद्या) नामी पुस्तक रच कर यह दर्शाया है कि किस प्रकार रचित पदार्थ विशेष उद्देश्य वा प्रयोजन को पूर्ण करने के लिये बनाए गये हैं। यदि तोतों को पग दिये हैं तो उन की रचना ऐसी नहीं बनाई कि वह वृक्षों की टहनियों को पकड़ न सकें। हंस, बक, बतक आदि पक्षियों को अपना भोग जल से

* Dr. Paley's Natural Theology.

लेना है उन के पग भी तोते की न्याईं नहीं हैं किन्तु ऐसे बनाए गये हैं जैसे कि चप्पे अर्थात् झिलीदार, जिन से कि वह जलपर तैर सकें। अनेक नास्तिक महोदय भला ही कहें कि पुरुष के स्तन क्यों बनाए गये पर इस से मनुष्य की अल्पज्ञता सिद्ध होती है नकि ईश्वर की प्रयोजन रहित रचना। अब तो युरुप के विद्वान् भी कह रहे हैं कि पुरुष के यह स्तन भी उपयोगी हैं और The Old Riddle And The Newest Answer नामी पुस्तक और अन्य अनेक भारी विद्वानों तथा विज्ञानियों के लेखों में संदेहवादिओं की इन आशंकाओं के उत्तर दिये गये हैं। युरुप के विद्वान् अभी ऋषिकोटी की योग्यता पर नहीं पहुंचे हैं इस लिये प्रायः विद्वान् सृष्टि के कई रहस्य नहीं समझते। पर दिनों दिन परस्पर संवाद की वृद्धि से उन के संशय मिट रहे हैं और सृष्टि की रचना और सृष्टि के कार्य किसी महान् उपकारक उद्देश्य को लिये हुए हैं ऐसा वह मानने लगे हैं।

आन्धी को अब कोई पश्चिम का विज्ञानी निष्प्रयोजन नहीं कहता। प्लेग (महामारी) आदि भयंकर रोगों के रोगकारक त्र-सेनु दूर करने और वायुमंडल को शोधन करने की यह क्रिया है।

बंबई का एक प्रसिद्ध डाक्टर* जिसने कई वर्ष जल शुद्धि वा कूप शुद्धिपर मनन किया है उस का जब दो वर्ष हुए बड़ोदा में लैकचर हुआ तो उसने मछलियों को जल शोधक यंत्र बताया। और कहा कि एक मछली और एक मैंडक जो मच्छरादि से मलिन जलकी शुद्धि कर सकता है वह आश्चर्यकारक है।

---

* प्रोफेसर गेडीज़.

(Professor Geddes). Town Pl anning Expert.

भूकंप का नाम ही भयप्रद है पर अबतो युरुप के विज्ञानी मुक्त कंठ से कहरहे हैं कि हानियों की अपेक्षा भूकंप से लाभ अधिक हैं। पृथिवी की बल वृद्धि का एक कारण भूकंप है ऐसा वह मान रहे हैं। एक प्राणी दूसरे को मार कर जो खाता है इस को सृष्टि में क्रूरता दर्शाने के लिये अभी कई डारविन मतानुयाई कहते हुए चले आ रहे हैं। भारत कवि सुप्रसिद्ध आस्तिक श्रीयुत रवेन्द्रनाथ टागोर ने साधन नामी उत्तम पुस्तक में इस क्रूरता की आशंका का संक्षिप्त भाव पूर्ण उत्तर दिया है। सब ही आस्तिक एक स्वर से कह रहे है कि ईश्वर अपनी माता पिता के समान आनन्द दाता है। वेदों में मंत्र आते हैं जिन में ईश्वर को माता, पिता की उपमा दी गई है यथा—

सनः पितेव सूनवेऽग्ने सुपायनो भव।
सचस्वानः स्वस्तये ॥
स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥
(य० अ० ३२ मं० १०).

एक वर्ष का बच्चा भूमिपर खेल रहा है। किसी भयंकर पशु का शब्द उस के कान में पड़ा वा कोई विक्राल प्राणि व मनुष्य उस के गृह पर आरहा है। बच्चा दोनों अवस्थाओं में लोहे के संदूक में जाकर छिपने का यत्न नहीं करेगा किन्तु अपनी

माता की गोद

में पहुंचना ही अपना पोर्टआरथर से भी बढ़कर सुरक्षित दुर्ग समझता है। माता उसकी रक्षक है यह अबोध, भाषारहित बच्चे को भी ज्ञात है। बड़ा होकर वह अनुभव करता है कि संसार में

यदि कोई निस्स्वार्थ हितैषी किसी मनुष्य के हो सकते हैं तो वह माता पिता ही हैं।

माता पिता जब अपने प्राणप्रिय बालक को आगकी तरफ जाते हुए देखते हैं तो उसको रोकते हैं। यदि बालक पूर्ण ज्ञान न रखने के कारण हठ ही करके आग में जाना चाहे तो वह बलात्कारसे उसको पकड़ लेते हैं। ऐसी दशामें उसकी स्वतंत्रता रुकती है पर यदि मातापिता न रोकें तो बालक इससे महान् कष्ट को प्राप्त हो, क्या कोई डारविन वा हकील मतानुयाई माता-पिता के इस

बलात्कार

को बालक के संबंध में कभी क्रूर कर्म कहेगा, कदापि नहीं, फिर जब जगत्पिता प्राणियों को भयशंका और लज्जारूपी मानसिक दूतों द्वारा बलात्कार उसके मन को रोकते हैं तो ईश्वर का यह न्याययुक्त दंड है वा क्रूरता। दूसरा दृष्टान्त लीजिये। एक पिता के ३ पुत्र हैं। पिता १२ घंटे मेहनत कर पैसा कमा अपने प्राण-प्यारे बच्चोंका पालन करता है। जिस समय वह बाजार से आता हुआ ६ आम घरमें लाता है तो बच्चे प्रेमके मारे उसका चमट जाते हैं। पिता एक बच्चेको सब आम एक स्थानपर रखने को देता है और कहता है कि दो दो आम प्रत्येकको देदो। पर एक स्वार्थी बालक चाहता है कि मैंतो अकेला ४ आम लेलूं और एक एक अपने दूसरे भाईयोंको दूं। पिता उस को ऐसा करनेसे रोकता है पर वह नहीं मानता ऐसी दशा में पिता उसको निर्धन बनाता है अर्थात् एक आम उसको खानेको देता है और दोनोंको दो दो आम। क्या पिताका यह दंडरूपी कर्म कोई खराब कह सकता है।

राजा एक पुरुष को फांसी का दंड देता है इस लिये कि उसने किसी पुरुष को तलवार से मार डाला था क्या राजा का यह दंड कोई क्रूरता का कर्म कह सकता है।

डाक्टर रोगी को क्लोरोफार्मद्वारा मूर्छित कर उसके अंग विशेष को काटता है वा विना क्लोरोफार्म दिये छोटेसे ज़खम को चीरता है, रोगी को निर्वलता तथा दुःख तो होता है पर क्या कोई डाक्टर को कभी क्रूर कहेगा?

हकीम कड़वी औषधि रोगीके मुखमें डालता है क्या वह क्रूर है?

Dr. David Livingstone डाक्टर डेविड लिविंगस्टोन सुप्रसिद्ध पादरी तथा डाक्टर अफरीका की यात्रा को जब गये तो उन का जीवनचरित्र बतलाता है कि एक दिन एक शेरने जंगल में उन को भुजा से पकड़ लिया और जंगल की तरफ ले भागा जिस समय शेर उनकी ओर आया उस समय उनके मनमें भय हुआ पर जिस समय शेरने उनको भुजासे मुखमें पकड़ लिया तो उसके पकड़नेके समयही उनको

मूर्च्छा

आगई, और वह बेभान हो गये अर्थात् उनको कुछ भी ज्ञान न रहा। जिस समय कुछ आगे जंगल में जाकर शेर किसी शिकारी की गोली की आवाज़ सुनकर उनको जमीनपर पटक कर भाग गया तो उस समय वह होशमें आए। वह स्वयं इस घटनाको लिखते हुए दर्शाते हैं कि चूंकि मैंने मोटे कपड़े पहिने हुएथे इस लिये शेर के दान्त मेरी खालके अन्दर खुबे नहीं। और कहते हैं

कि जिस समय शेर अपने मुखमें पकड़े हुए मुझे लेजारहा था तो उससमय मुझे वही मूर्छा आरहीथी जो रोगी लोगोंको

क्लोरोफार्म

सुंघाकर डाक्टर दिलातेहैं, साथ ही कहते हैं कि चूंकि मैं डाक्टर था इसलिये मैं इस को क्लोरोफार्म की दशा कह सका और अन्त में लिखते हैं कि

बिल्ली जब चूहे

को पकड़ती है तो वह भी बेभान वा मूर्छित होजाता और भाग नहीं सकता, यह "**करुणानिधान**" ईश्वर की दया का दृष्टान्त है कि वह प्राणियों की मृत्यु समय में उन की वेदना को कमकरने के लिये उन उन प्राणियोंद्वारा जो उन को मारते हैं

मूर्छित

भी करा देते हैं। डाक्टर डेविड लिविंगस्टन का उक्त कथन सत्य है। दिनोंदिन इस की पुष्टि हो रही है ॥

अमेरीका के एक डाक्टर तथा योगी एण्ड्रो जेक्सन डेविस (Andrew Jackson Davies) ने एक स्थल पर लिखा है कि सर्प जो झाड़ी में बैठे हुए छोटे पक्षी की ओर दृष्टि लगाए बैठता है वह उस को नेत्र द्वारा मूर्छित (Magnetised) कर देता है। फिर वह पक्षी बेभान शाखापर से नीचे गिर पड़ता और सर्प उस को निगल जाता है। जिस समय कबूतर को पकड़ने के लिए बिल्ली उस के पास पहुंचती है तो कबूतर उस की दृष्टि से मूर्छित होने लगता और पहले आंखे बन्द कर लेता है। इसी प्रकार भेड़िया जब बन्दर को वृक्ष के नीचे से ताड़ लेता है तो बन्दर मूर्छित हो जाता है इत्यादि दृष्टान्तों से पाया जाता है कि स्वाभाविक रीति

से जो प्राणि दूसरे प्राणि को आहार के लिए मारता है वह उस को पहले मूर्छित कर देता है ॥

कई महाशय प्रश्न करते हैं कि क्या आदमी शेर की खुराक है ? हम इस के उत्तर में कहेंगें कि मनुष्य शेर की खुराक नहीं है किन्तु शेर अपने शिकार की तलाश में जब निकलता है तो किसी मनुष्य से डर जाने वा विघ्न कर्त्ता जान कर मनुष्य का वैरी हो जाता है, और इस लिए प्रायः मनुष्य से वैर लेने के लिए वह उस की हिंसा करता है जिस प्रकार मनुष्य सांप और सुअर की खुराक नहीं, पर यह वैर के स्वभाव से विवश हो और अपनी जान बचाने के भय से उस पर आक्रमण कर बैठते हैं। जङ्गली भैंसा मस्ती में आया हुआ मनुष्य को सींगो से मारने के लिये दौड़ता है, क्यों कि वह उस को अपने किसी चेष्टा के मार्ग में प्रतिबन्धक समझता है, पर इस का यह मतलब नहीं कि मनुष्य भैंसें की खुराक है। यद्यपि यह सत्य है कि मनुष्य किसी शेर आदि की खुराक नहीं तो भी मनुष्य को इन भयंकर पशुओं से अपनी रक्षा अवश्य करनी चाहिए, जैसा कि जङ्गली भैंसे व हाथी से उस को अपनी रक्षा करनी ज़रुरी है ॥

प्रायः लोग प्रश्न करते हैं कि क्या स्वाभाविक मृत्यु दुःखदाई होती है ? इसका उत्तर योगी लोग तो यही देते हैं कि स्वाभाविक मृत्यु दुःखदाई नहीं, कारण कि जिस प्रकार वृक्ष का पत्ता पक कर ज़रा सी हवा के झकोले से सहज गिर पड़ता है उसी प्रकार सौ वर्ष तक अवस्था पाया हुआ मनुष्य पके हुए पत्ते की न्यांई सहज से मृत्यु को प्राप्त हो सकता है । मनुष्य ने जो अपने कुकर्मों से शरीरको निर्बल कर लिया है इस से अनेक रोगादि उसको दण्डरूप

सुधारका काम देते हैं। यदि मनुष्य सृष्टि के दण्ड को क्रूरता व हिंसा समझे तो यह उसकी भूल है। सृष्टि में जो दण्ड मिलता है वह सचमुच मनुष्य के सुधार के लिए होता है और यदि मनुष्य इच्छा पूर्वक कुकर्म न करे तो उसको दुःख भोगना भी न पड़े। यजुर्वेद में निम्नलिखित मंत्र एक योगी की मृत्यु का स्वाभाविक आदर्श जिस प्रकार दिखा रहा है वह मंत्र तथा अर्थ पढ़ने से विदित हो जायगा—

त्र्यंम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ॥
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षी माऽमृतात् ॥
त्र्यंम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् ॥
उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीयमामुतः ॥

(यजु० अ० ३ मं० ६०)

इस में दर्शाया गया है कि लोगों को एक ईश्वर की उपासना करनी चाहिए। (उर्वारुकमिव) जैसे खर्बूजा फल पककर (बन्धनात्) लता के सम्बन्ध से छूट कर अमृत के तुल्य होता है वैसे हम लोग भी (मृत्योः) प्राण वा शरीर के वियोग से (मुक्षीय) छूट जावें....॥

ठीक जिस प्रकार माता पिता, गुरु राजा के दंड निष्प्रयोजन नहीं होते न ही क्रूरता के कर्म कहे जा सकते हैं उसी प्रकार

ईश्वरीय दंड

की दशा समझनी चाहिये ॥

कई लोग कहा करते हैं कि मरकर जब मनुष्य का जीव किसी दूसरी देह में ईश्वर के न्याय नियमानुसार दंड भोगने को जाता है

तो उसको वा हमको पिछले जन्म के वह कुकर्म याद क्यों नहीं आते जिनका दंड दुःखरूप हम सुधारके हेतु से भोग रहे हैं। इसके उत्तर में हम कहेंगे कि जिस समय हम मनुष्य योनिमें शुभा-शुभ कर्म करते हैं उस समय हम जो भी नया कर्म करते हैं वह इच्छा द्वारा ही करते हैं। हमें उस समय याद होता है कि हम अमुक कर्म कर रहे हैं। जैसा कि हमने ककड़ी खाई, हमें मालूम है कि हमने बाज़ार से लाकर ककड़ी खाई थी। ६ घंटे के पीछे हमें पेट में दर्द मालूम होने लगा उस समय हम विना सोचे कह देते हैं कि हमने तो कोई खोटा कर्म नहीं किया पेट दर्द मुफ्तमें हमें भोगना पड़ा, पर वास्तव में यह बात नहीं। छे घंटे पूर्व जो ककड़ी खाई थी उसने यह दर्द उत्पन्न किया और दर्दके समय हम उसको याद में नहीं लाते। पर डाक्टर वा वैद्य पेट दर्दके कारण जानकर अनुमान लगा लेता है कि हमने कोई अग्नि मंद करने वाला पदार्थ खाया है और अजवायनादि देकर दर्द को शान्त कर देता है। जिस समय डाक्टर दवाई देने लगा है उस समय यदि वह बार बार यही कहता जावे कि तुमने ककड़ी खाई थी और हमको ककड़ी का भजन करने को ही कहता रहे तो इससे वेदना बढ़ेगी कम नहीं होगी। दुःख के स्वरूप को भूलना दुःख का आधा इलाज है, इसी लिये योग्य डाक्टर मन में समझता है कि कुपथ्य से यह दर्द हुआ है पर वह यही कहता है अभी अच्छे होते हो बात ही क्या है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर, इसी जन्म वा पर जन्म में जब हम कोई दंडरूपी दुःख भोग रहे होते हैं, तो हम को वह कुकर्म याद नहीं रहने देता। हम जो भूल जाते हैं, इस में ही उसकी महान् कृपा है। जो नींद में दिन की बातें भूल जाता है वही काम के लिये ताज़ा

हो जाता है। शोक, भय, दुःख का ख्याल बनाए रखने से मनुष्य शोकातुर बना रहेगा, इसी लिये ईश्वर के नियम हमें अनेक बातों को भुला देने से हमपर उपकार करते हैं । जिस डाक्टर ने रोगी का कष्ट दूर करना है वह क्लोरोफार्म वा अन्य प्रकार से यही यत्न करता है कि यह अपनी वेदना को भूल सके, इस को नींद आ-जावे, इस लिये सृष्टि में दुःख को कम करने के अनेक साधन मूर्च्छा, भूल जाना, तथा निद्रा आदि हैं ॥

इस सृष्टि में सुख विशेष है और दुःख कम। हम वर्ष में कितने दिन अच्छे और कितने दिन बीमार रहते हैं। और यदि हम कोई कुपथ्य, कुकर्मादि न करें तो आठ वा १० दिन भी बीमार न रहें, और यह बीमारी भी वास्तव में हमारे सुधारवा जागृत करने का काम देती है। ईश्वर वा सृष्टि हम को कष्ट इस लिये नहीं देती कि वह क्रूर है पर इस लिये कि वह हमारी रक्षक और हितकारी है, उसका उद्देश्य हमारे माता पिता के समान हम को दंड देकर सुधार करने का है। ईश्वर की दया उसके न्याय के साथ साथ रहती है।

उसको परम पिता और माता समझते हुए हम को उस का स्वरूप विचारना चाहिये। मांबाप की सब बातें बच्चे पूर्ण रूप से नहीं भी समझते पर कभी भी मातापिता बच्चों के शत्रु नहीं हो सकते।

मुख्य सिद्धान्त जिस के सम्बन्ध में हम यह लेख लिख रहे हैं वह ईश्वर की सत्ता है उस के न्याय और दया रूपी गुणों को न समझ कर लोग पृथिवी को केवल नरक कुण्ड कह रहे हैं। जब किसी राजा की प्रजा को निर्पक्ष दण्ड देनेपर एक राज्य नरक

कुण्ड नहीं हो सकता ठीक उसी प्रकार यह पृथिवी नरक कुण्ड नहीं है इस में सुख प्रधान है और दुःख कम है। जिस देश में चोरों को उचित दण्ड नहीं मिलता उस देश में चोरी बढ़ जाती है। ईश्वर के राज्य में कोई भी कर्म ऐसा नहीं जिस का फल हम को न मिले, जिस समय हम चलने का कर्म करते हैं सूक्ष्म रूप से थकावट उसी क्षण से आरम्भ हो जाती है परन्तु दस पन्द्रह मील चलनेपर पूर्णरूप से थक जानेपर मनुष्य प्रायः थकावट को अनुभव करते हैं जहां ईश्वर दयालु हैं वहां वह न्यायकारी भी हैं कर्म और उस का फल दिए बिना नहीं छोड़ते। हर्बर्ट स्पेन्सरने इसी कर्म सिद्धान्त को और प्रकार से अनुभव करते हुए action (क्रिया) और reaction (प्रत्याघात) के शब्दों का प्रयोग किया है, वास्तव में यह कर्म का सिद्धान्त नहीं तो क्या है, हेकील (Haeckel) के मतानुसार जब सब एक ही जड़ के नाना रूप हैं तो पुण्य पाप में भी भेद नहीं हो सकता और मनुष्य समाज में एक जड़ पदार्थवाद के प्रचार से दुःख की मात्रा बढ़ेगी घटेगी नहीं॥

ईश्वर सृष्टि का रचनेवाला उस को स्थित दशा में रख कर पालन करनेवाला और फिर प्रलय करनेवाला है इस के अतिरिक्त वह शब्दमयी ज्ञान का स्रोत है, वह सर्व व्यापक होने से पूर्ण है उस का यह कार्य जगत् भी पूर्ण है उपनिषत् ने क्या अच्छा कहा है कि

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुदुच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवा विशिष्यते॥

अर्थात् वह परमेश्वर पूर्ण है और उसका यह कार्य जगत् भी पूर्ण है········इसी लिए उस की सृष्टि रूपी कार्य में कोई छिद्र

भूल त्रुटि वा दोष नहीं। डारविन आदि महोदय इस सृष्टि के रचित पदार्थों को छिद्रयुक्त अपूर्ण मान रहे हैं।

डारविन महोदय का यह मत कि एक प्राणी के विकास से दूसरे प्राणि बने और उनमें जो त्रुटियें थीं उन को दूर करने के लिए और जाति के प्राणि बने, क्या यह नहीं बतला रहा कि डारविन महोदय को सृष्टि अपूर्ण प्रतीत हुई ? वास्तव में वह मछली व केंकड़ा आज तक मछली व केंकड़ा ही है उस का स्वरूप सिवाय डाक्टर डारविन की कल्पना के कहीं पर बदला नहीं। प्रत्येक पक्षी प्रत्येक कीड़ा प्रत्येक पशु अपनी पूर्ण रचना सहित पैदा हुआ है और जो काम सृष्टि में वह कर रहा है उस को दूसरी रचना वाला कोई नहीं कर सकता। Pelican (हवासील) नामी बगले की चोंच में कुंडी लग रही है, जिस से वह मछली टांग सकता है किन्तु तोते की चोंच सरोंते की न्याईं फल कुतरने को बनाई गई है। क्या आज तक कोई दृष्टांत कोई मनुष्य दे सकता है कि हवासील बगला और तोता अपने शरीर परिवर्तन करके एक दूसरे के शरीर को वा किसी नए प्रकार के शरीरों को धारण कर सके ?

हां यह सच है कि तोते की जाति मात्र में एक अंश तक वैचित्र्य गुण (Variations) आ सकते हैं पर तोता और बगुला मिल कर विवाह द्वारा अथवा किसी और प्रकार से कभी नया पक्षी बना सके ? नहीं बना सके और बना भी कैसे सकें जब कि इस सृष्टि का कर्त्ता पूर्ण (Perfect) विज्ञानी है इस का कार्य कभी अपूर्ण नहीं हो सक्ता।

आज जिस समय हम डारविन महोदय के विचार पढ़ते हैं तो यह पढ़ कर कि पक्षिओं के पर झड़गए और वह और प्राणि बन गए आश्चर्य्य होता है। जिस पक्षी का पर झड़ जाए वह प्रथम जीता क्युं कर रह सकता है?

पक्षियों की रचना ऐसी अद्भुत् पूर्ण और विज्ञान युक्त है कि उसपर वर्षों मनन करने से बड़े बड़े विद्वान् आज उन के परों की रचना का ज्ञान उपलब्ध करनेपर ही विमान बनाने के योग्य हो सके। इस बात की पुष्टि के लिए देखिए विश्वकोश* ॥

यदि डारविन महोदय की कल्पना अनुसार सब पक्षी परों को निकम्मा कर झाड़ देते और एक भी पक्षी न रहता तो संसार में आजकल विमान कभी न बन सकते। बीस वर्ष हुए कि श्रीयुत महात्मा मुन्शीराम सुप्रसिद्ध संपादक सद्धर्मप्रचारक नें हमें एक प्राचीन संस्कृत पुस्तक का वृत्तान्त सुनाया था जो विमान रचना परथी और जिस को सूत्रकार मुनिने "पक्षियों का ही वर्णन करते हुए आरंभ किया था"। खेद का विषय है कि वह पुस्तक जालंधर ज़िले के उस महाशय ने जिस के पास थी किसी भ्रम के कारण नष्ट कर दी। तात्पर्य्य लिखने का यह है कि कोई भी रचना तरतीम तन्सीख (संशोधन, परिवर्तन) के योग्य नहीं। कारण कि उसका बनाने वाला ईश्वर पूर्ण विज्ञानी है और जिस रचना को मनुष्य अपूर्ण समझ रहा है विद्या वृद्धि से वही रचना पूर्ण बनी हुई सिद्ध हो रही है। पक्षियों से यही लाभ मनुष्य को नहीं हुआ कि उस ने आकाश गमन के लिए इन के परों की बना-

---

* Encyclopœdia Britannica. Volume X. Edition XI 1910-11. Pages 502-509.

वट का निरीक्षण तथा मनन करने से विमान रच लिए, किन्तु उन कीट, मूषादि के अति वृद्धि को रोकने के लिए, यह अद्भुत साधन हैं। लंका में कुछ वर्ष हुए शिकारी लोगोंने पक्षियों का भारी नाश कर डाला था। चाय के खेतों में उन दिनों बहुत कीट पड़ गए और चाय के सौदागर रोने लगे। निदान सौदागरों को अनेक प्रकार के पक्षी मद्रास प्रान्त से ले जाने पड़े और तब ही चाय के खेत कीटों से सुरक्षित हुए। उल्लू तो मूष आदि से खेतों को बचाते हैं। मोर सांप तक मार डालता है।

लकड़ी, घास, फल, अन्न सब को कीट खाजाते यदि उन को मर्य्यादा में रखने के लिए पक्षी न होते। पक्षियों की बीठें हड्डियां अतीव उपयोगी खाद का काम देती हैं। सब ही प्राणि अनेक प्रकार से एक दूसरे की सहायता कर रहे हैं। ऐन्ड्रो जैकसन डेविस (Andrew Jackson Davis) अमेरिका के प्रसिद्ध डाक्टर तथा योगी लिखते हैं कि सूअर, मलादि मलीन पदार्थ खाकर सफाई का भारी काम करता है। पालतू पशुओं के उपकार तो सब ही जानते हैं। कबूतर चिट्ठी रसान दूत हैं। कुत्ता घर तथा खेत का सच्चा चौकीदार, कौए क्षयरोग के जन्मदाता मलिन पदार्थों को चट कर जाते हैं। किसी भी प्राणि के उपकार को गिनाना इस समय हमारा काम नहीं॥

यदि कहो कि लाखों वर्षों में यह विकार हुआ तो भी यह माना नहीं जा सकता कारण कि जिसका प्रत्यक्ष सम्पूर्ण रूप से वा अंशरूप में हमारे सामने नहीं उसका अनुमान भी कैसे हो सकता है, इसलिए यह केवल कल्पना है न कि शास्त्रीय अनुमान। यदि कहो कि भिन्न भिन्न जातिएं विवाह करके विचित्र सन्तान पैदा कर

सकती हैं तो यह भी बात ठीक नहीं कारण कि इसका उदाहरण एक भी सृष्टि में नहीं । इसके अतिरिक्त सृष्टि में भोक्ता और भोग्य इस प्रकार की रचना देखने में आती है । चूहा बिल्ली का भोग्य है, यदि चूहा ही बिल्ली बन जाए तो फिर बिल्ली क्या खाएगी और उस दशा में भोक्ता योनि भूखों मर जायगी यह कल्पना चक्र डारविन महोदय को इस लिए घड़ना पड़ा कि वह नास्तिक थे और सृष्टिका का कर्त्ता पूर्ण परमेश्वर नहीं मानते थे । ईश्वर का होना इसलिए सिद्ध है कि सृष्टि के जड़ पदार्थ नियम पूर्वक रचना में स्वयम् नहीं आ सकते । देखो मनुष्य की आंख सूर्य्य को चाहती है जिस शक्तिने एक तरफ मनुष्य योनि को बनाया दूसरी तरफ उसी शक्तिने सूर्य को भी रचा । उल्लू की आंख अन्धेरे में काम कर सकती है जिस शक्तिने उल्लू की आंख बनाई उसी विज्ञानमय शक्तिने खेत के उन चूहों को रचा जो रात में निकलते हैं । हमारी पृथिवी के पास एक चांद है दूसरा अपने आप क्यों नहीं बनगया इसलिये ईश्वर सृष्टि का रचने हारा है इसके माने विना सृष्टि का रहस्य समझ में नहीं आसकता । देखिए मनुष्य का शरीर एक विशेष सीमा तक बढ़कर फिर आगे नहीं बढ़ता, जितना बीस बरस के अन्दर बढ़ाथा उसी हिसाब से यह क्यों न बढ़ता गया, कौन शक्ति है जो उसके बढ़ने को रोक देती है ॥

१ उत्पत्ति स्थिती और प्रलय का चक्र जो महान् चेतनशक्ति चलारही है वही ईश्वर है ॥

२ जो मनुष्य को आदि सृष्टिमें शब्दमय ज्ञान की प्रेरणा करती है वही शक्ति ईश्वर है ॥

३ जो काम भूलसे अपूर्णता से वा इत्तफ़ाक़ (Chance)

से होता है वह अनेकवार तो क्या दूसरी वार वैसा नहीं हो सकता यदि कोई मनुष्य किसी के हस्ताक्षर नकल करके बनालेता है तो वह १०,२०, कागज़ों पर वैसे यथार्थ हस्ताक्षर नहीं कर सकता और इसीलिए अदालतों में जाली हस्ताक्षर बनानेवाले प्रायः पकड़े जाते हैं। पर जिन के हस्ताक्षर अपने होते हैं वह " पूर्ण " रूपसे सैंकडों कागजोंपर रोज़ करते हैं।

सृष्टिमें ऋतु बार बार आती हैं। दिन रात बार बार आते हैं। सब ही सृष्टि नियम आवृत होते अथवा लौट फेर से पुनः पुनः आते हैं। जो योनिएं एकवार बनादीं वह बार बार अपने समान संतान उत्पन्न करती हैं। यह पुनरावृत्ती का चक्र दर्शारहा है कि सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर " पूर्ण " है। यदि भूल से वह अपूर्ण सृष्टि रच लेता तो दूसरी वार वैसी न रच सकता। युरुप के विद्वान् भी इसी Cycle (चक्र) के नियम को अनुभव करने लगे हैं।

पुरुषसूक्त में तो साफ ही कहा है कि

" अभवत् पुनः "

अर्थात् सृष्टि चक्र सदैव बार बार चलता रहता है। " यथा-पूर्वमकल्पयत " ऋग्वेद के इस वचनानुसार भी कल्प का चक्र बार बार चलता है।

डारविन महोदय लाख कल्पना करें परन्तु क्या कोई कह सकता है कि कभी किसी पशु ने मनुष्य का बच्चा पैदा किया। पशु बार बार पशु ही पैदा करते हैं। अमुक योनी अमुक आकृति के प्राणी को जन्म देती है और कभी भूल नहीं होती। सृष्टि के कार्य्य पुनः पुनः ठीक वैसे ही होते हैं जैसा कि पहिले थे यह बात

ईश्वर के पूर्ण होने के अतिरिक्त सृष्टि के पदार्थों की रचना के भी **पूर्ण** होने का बोधन कराती है और दर्शाती है कि सृष्टि रचित पदार्थ अखंड रूप से निर्माण किये गये हैं उन में सुधार की आवश्यकता ही नहीं। मुसलमान भाई सैकड़ों वर्षों से खतना करते हैं पर उन के बच्चे बे खतना ही उत्पन्न होते हैं । हिन्दु भाई हजारों वर्षों से कान छेदते हैं पर उन के बच्चे विना छिदे कान ही उत्पन्न होते हैं। सृष्टि के नियम वा कार्य्य पुनः पुनः आवृत होते हैं । इस से ईश्वर पूर्ण विज्ञानी तथा सृष्टि के पदार्थ पूर्ण बने है यह सिद्ध होते हैं अब हम चौथा हेतु ईश्वर के **एक** होने का देते हैं।

(४) वीलर एन्ड कंपनी के पुस्तक बेचने का डव्बा सब रेल के सब स्टेशनोंपर एक ही प्रकार का देखने से अनुमान होता है कि उस design वा नकशे के रचनेवाला **एक** ही पुरुष होना चाहिये। सृष्टि में मानव जाति में सब की दो आंखे माथे के नीचे और सब के दो कान एक ही फेशन के होने से अनुमान होता है कि इस एक सिक्के के चलानेवाला

एक ही ईश्वर

होना चाहिये। राजा की भी दो ही आखें और भंगीकी भी दोही आखें। काशमीर के गोरे और लंका के काले पुरुषों की भी दो ही आंखें बतला रही हैं कि जिसने मानव जाति की समानाकृति बनाई है वह **एक** ही है।

पांचवी बात यह है कि वह ईश्वर निराकार है कीड़ी जिस मुख से खांड को खाती है उस मुख का रचने वाला वही है पर कीड़ी से भी सूक्ष्मजन्तु वायु, जल आदि में रहते हैं उन का जब

रचने वाला वही है तो वह सूक्ष्म होना चाहिये यह विचारणीय बात है।

परमाणु कितने सूक्ष्म हैं वह मानवी कल्पना में ही आ सकते हैं उन में भी जो व्यापक हो कर गति देता है वह ईश्वर है।

आकाश परमाणुओं से भी सूक्ष्म होने के कारण उनका आधार है पर ईश्वर आकाश से भी अति सूक्ष्म होने के कारण आकाशमें भी व्यापक है इस लिए वह सर्व व्यापक है और उस का स्वरूप अति सूक्ष्म वा निराकार कहा जाता है। यजुर्वेद में उस को 'ओं खं ब्रह्म' तथा

सपर्य्यगायच्छुक्र मकाय इत्यादि कहा गया है और उपनिषदों में

दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मात्सूक्ष्मदर्शिभिः लिखा है।

हम ऊपर दृष्टान्त दे कर लिख चुके हैं कि जीवात्मा सत् चित् शक्ति है यहांपर उस के अमर होने का एक ही दृष्टान्त दे कर इस अध्याय को समाप्त करना चाहते हैं।

सब जानते हैं कि बुढ़ापे में शरीर निर्बल होने लगता है पर यह बात सब वृद्धों को अनुभव सिद्ध है कि उन की मनो वासनाएं शरीर के निर्बल होने के साथ कभी निर्बल नहीं होतीं, यह बात दर्शा रही है कि वासनाओं का केन्द्र जो जीवात्मा है वह अजर अमर है इसी लिए वेद में कहा गया है कि,

यदजिरं जविष्ठं

आत्मा का साधन मन अजर है और यजुर्वेद अध्याय ४० में आत्मा

को ' अमृतम् ' कहा है यथा वायुरनिलं अमृतम् इत्यादि ।

प्रश्न केवल यह है कि डारविन मत जो एक जड़ पदार्थवाद है जिसका दूसरा नाम नास्तिकमत है लोगों को क्यों रोचक प्रतीत होता है इस का उत्तर यह है कि यह मनुष्य को किसी विशेष तपस्या करने का उपदेश नहीं दे सकता किन्तु जो मनुष्य को मनुष्यपन से गिराने वाली हिंसा आदि वृत्तियां हैं उन को जगाने तथा पुष्ट करने का काम देता है । डारविन महोदय निस्सन्देह जिज्ञासु थे पर उन को यदि वेदशास्त्र का आश्रय मिल जाता तो अफलातून से भी बढ़ कर आस्तिक बन जाते । उन के अनुयायिओं का कर्त्तव्य है कि वह अफलातून के इन वचनों पर विचार करें:—

कहते हैं कि अफलातून कहा करता था कि मुझ को सुकरात प्यारा है किन्तु सचाई सुकरात से भी बढ़ कर प्यारी है इसी प्रकार हमें कहना चाहिये कि डारविन हमें प्यारे हैं किन्तु सचाई डारविन से भी बढ़ कर प्यारी है ।

महर्षि स्वामी दयान्द सरस्वती की पुराने ऋषियों पर श्रद्धा जगत् विख्यात है तिस पर भी वह सत्य के अधिक प्यारे थे । सत्यार्थ प्रकाश में प्रश्नोत्तर लिखते हुए दर्शाते हैं कि चाहे बालविवाह पर पराशर ऋषि का वाक्य हो चाहे ब्रह्मा ऋषि का दोनों ही त्याज्य हैं क्यों कि बालविवाह सत्य सिद्धान्त नहीं यही भाव जिज्ञासुओं में फैलने की ज़रुरत है, हमें डारविन का मान है क्यों कि उसने युक्ति से काम लेना लोगों को सिखाया, हम उसका आदर करते हैं इस लिए कि निरीक्षण और परीक्षण अथवा प्रत्यक्षप्रमाण की महिमा पर उसने ज़ोर दिया । यह भाव कि सृष्टि बनने में काल लगना चाहिए और सृष्टि का ऐसा क्रम होना चाहिए जो युक्ति

सिद्ध हो यह विचार उसके युक्ति युक्त और आर्य शास्त्रों के अनु-कूल हैं. पर व्यक्ति परिवर्तन और अनीश्वरवादका सिद्धान्त हम स्वीकार नहीं कर सकते, वह सायन्स का भारी प्रचारक था पर हमको उससे भी बढ़कर सत्यसे प्रेम करना चाहिये। उसके ग्रंथों में जो सत्य सिद्धान्त हैं उनको हम कभी छोड़ नहीं सकते जो तर्क विरुद्ध बातें हैं वही हमको छोड़नी हैं॥

हम ऊपर दर्शा चुके हैं कि ईश्वर जिसने यह जगत् रचा पूर्ण है और साथ ही यह भी दर्शाया है कि जीवात्मा सत्चित् शक्ति है, न केवल यही वरंच यह अजर अमर भी है इस अमर और अनादि आत्माको अनादि और अमर ब्रह्म जीवके (Free will) स्वतंत्र कर्म का सुख दुःख रूपी फल देते हुए उसको मोक्ष मार्ग के योग्य बनाता है, यदि कोई छात्र एकबार परीक्षा में अनुत्तीर्ण हुआ तो उसको दो तीन वार विश्वविद्यालय के अधिकारी परीक्षा में बैठने-का अवसर देते हैं। ईश्वर जीवको दो चारवार ही नहीं किन्तु अन्तवार अवसर उन्नति करने अथवा मोक्ष पाने का देता है।

जिसप्रकार वृत्तिएं होती हैं उसी प्रकार वृत्तियोंके अपूर्ण होने की दशा में पूर्ण करने और विकृत होने की दशा में सुधारने के लिए पशु पक्षी आदि के नाना शरीर जो कि एक होस्पिटल के नाना कमरों की न्याईं हैं देता है। जिसप्रकार उस लड़के से जो चक्कु से सबको कष्ट देना चाहता है चक्कु छीन लेना ही उसका सुधार है उसी प्रकार इन योनियों में दुष्ट वृत्तियों को शमन अथवा वृद्धि द्वारा थका कर शान्त करना ईश्वरका मुख्य उद्देश्य है। डार-विन महोदय जीते हुए प्राणियों के विषय में उनके देह बदल

जाने की कल्पना करते हैं चूंकि ऐसे परिवर्तनका एक भी दृष्टान्त नहीं मिल सकता इस लिए हमें ग्राह्य नहीं। यदि वह मरकर एक शरीरसे दूसरे शरीरका धारण करना लिखते तो हमको तर्क युक्त होने से ग्राह्य था। वेदादि सत्शास्त्रों तथा आर्य ऋषियोंने एक योनिका दूसरे योनि में परिवर्तन मृत्यु के पश्चात् स्वीकार किया है जो कि तर्क युक्त है।

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमेषा त्रिविधा गतिः॥ १॥
स्थावराः कृमि कीटाश्चमत्स्याः सर्पाश्च कच्छपाः।
पशवश्च मृगाश्चैवजघन्या तामसी गतिः॥ २॥
हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः।
सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः॥ ३॥
चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः॥ ४॥
झल्लामल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः।
द्यूतपान प्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः॥ ५॥
राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः।
वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसीगतिः॥ ६॥
गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्चये।
तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः॥ ७॥
तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः।
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः॥ ८॥
यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्विकीगतिः॥ ९॥

ब्रह्मा विश्वसृजो धर्म्मो महान व्यक्तमेवच ।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गति माहुर्मनीषिणः ॥ १० ॥
इद्रियाणां प्रसंगेन धर्मस्या सेवनेन च ।
पापान्संयान्ति संसारा न विद्वांसो नराधमाः ॥ ११ ॥

मनु० अ० १२ । श्लो० ४०।४२-१०।५२ ॥

"जो मनुष्य सात्त्विक हैं वे देव अर्थात् विद्वान्, जो रजो गुणी होते हैं वे मध्यम मनुष्य और जो तमोगुणयुक्त होते हैं वे नीच गति को प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥ जो अत्यन्त तमो गुणी हैं वे स्थावर वृक्षादि, कृमि, कीट, मत्स्य, सर्प, कच्छप, पशु, और मृग के जन्म को प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥ जो मध्यम तमो गुणी हैं वे हाथी, घोड़ा, शूद्र, म्लेच्छ, निन्दित कर्म करने हारे, सिंह व्याघ्र, बराह अर्थात् सूकर के जन्म को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ जो उत्तम तमो गुणी होते हैं वे चारण (जो कि कवित्त दोहा आदि बना कर मनुष्यों की प्रशंसा करते हैं), सुन्दर पक्षी, दांभिक पुरुष अर्थात् अपने सुख के लिये अपनी प्रशंसा करने हारे, राक्षस जो हिंसक, पिशाच अनाचारी अर्थात् मद्यादि के आहार कर्त्ता और मलिन रहते हैं वह उत्तम तमोगुण के कर्म का फल है ॥ ४ ॥ जो नीच रजो गुणी हैं वे झल्ला अर्थात् तलवार आदि से मारने वा कुदार आदि से खोदने हारे मल्ला अर्थात् नौका आदि के चलाने वाले नट जो बांस आदि-पर कला कूदना चढ़ना उतरना आदि करते हैं शस्त्रधारी भृत्य और मद्य पीने में आसक्त हों ऐसे जन्म नीच रजो गुण का फल है ॥५॥ जो मध्यम रजोगुणी होते हैं वे राजा, क्षत्रिय वर्णस्थ राजाओं के पुरोहित, वाद विवाद करनेवाले, दूत, प्राड्विवाक (वकील बारिस्टर), युद्ध विभाग के अध्यक्ष के जन्म पाते हैं ॥६॥ जो उत्तम रजो

गुणी हैं वे गन्धर्व (गानेवाले), गुह्यक (वादित्र बजाने हारे), यज्ञ (धनाढ्य), विद्वानों के सेवक, और अप्सरा अर्थात् जो उत्तम रूपवाली स्त्री उन का जन्म पाते हैं ॥ ७ ॥ जो तपस्वी, यति, संन्यासी, वेदपाठी, विमान के चलानेवाले, ज्योतिषी और दैत्य अर्थात् देह पोषक मनुष्य होते हैं उन को प्रथम सत्त्वगुण के कर्म का फल जानो ॥ ८ ॥ जो मध्यम सत्वगुण युक्त हो कर कर्म करते हैं वे जीव यज्ञ कर्ता, वेदार्थवित्, विद्वान्, वेदविद्युत्, आदि और काल विद्या के ज्ञाता ज्ञानी, और (साध्य) कार्य सिद्धि के लिये सेवन करने योग्य अध्यापक का जन्म पाते हैं ॥९॥ जो उत्तम सत्त्वगुणयुक्त होके उत्तम कर्म करते हैं वे ब्रह्मा सब वेदों का वेत्ता विश्वसृज सब सृष्टि क्रम विद्या को जान कर विविध विमानादि यानों को बनाने हारे धार्मिक सर्वोत्तम बुद्धियुक्त और अव्यक्त के जन्म और प्रकृतिवशित्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥ जो इन्द्रिय के वश हो कर विषयी धर्म को छोड़ कर अधर्म करने हारे अविद्वान् हैं वे मनुष्यों में नीच जन्म बुरे बुरे दुःख रूप जन्म को पाते हैं ॥ ११ ॥ इस प्रकार सत्त्व, रज और तमो गुण युक्त वेग से जिस जिस प्रकार कर्म जीव करता है उस उस को उसी उसी प्रकार फल प्राप्त होता है ॥ ”

एक बार रावलपिण्डी आर्यसमाज के महोत्सवपर श्रीयुत महात्मा हंसराज, बी. ए. ऑनररी प्रिन्सीपल डी. ए. वी. कोलेज लाहौरने* अपने उत्तम भाषण में यह कहाथा कि जो लोग डारविन मत को मानने में रुचि दर्शाते हों उन के लिए पुनर्जन्म का

* Mahatma Hansraj B. A. Honorary Principal, D. A. V. College. Lahore (Panjab).

सिद्धान्त मानना क्यों कठिन है यह बात मैं नहीं समझता ! मनुष्य योनि को छोड़ कर जितनी भी योनियां पशु से ले कर वनस्पति पर्यन्त हैं वह सब भोगयोनि हैं मनुष्य योनि भोग तथा कर्म दोनों है और आदि अमैथुनि सृष्टि के मनुष्य कर्म प्रधानयोनि पाते हैं। जिस प्रकार कैदखाने (बन्दी गृह) के कैदी स्वतंत्रतासे कर्म नहीं करते व जिस प्रकार हस्पताल के indoor patients रोगी स्वतंत्रता रहित हैं उसी प्रकार सर्व भोगयोनियां समझनी चाहिएं ।

एक एक भोग योनि के गुणकर्म स्वभाव विचित्र हैं कई पशु पक्षी बहु स्त्रीगामी (Polygamist) होते हैं कई पक्षी चकवा चकवी आदि दम्पतिव्रत (Monogamist) होते हैं.

कई पशु फल अनाज खाते हैं कई मांस कई कीड़े इत्यादि । एम. ए. क्लास के विद्यार्थिओं को कभी बहुत निचली क्लास के विद्यार्थी अपने आदर्श नहीं बनाने चाहिएं ठीक उसी प्रकार मनुष्य योनि सब पशु आदि भोग योनि से पृथक् है, इस श्रेष्ठ मनुष्य योनि का आदर्श कभी कोई भोग योनि का पशु नहीं हो सकता । भोग योनि में एक सामान्य नियम यह देखने में आता है कि

बलवान् निर्बल को पीड़ा देता है

यह पशु स्वभाव मनुष्य को अङ्गीकार नहीं हो सकता। सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका में ऋषि दयानन्द के यह वचन मनन करने योग्य हैं.

“ जैसे पशु बलवान् होकर निर्बलों को दुःख देते और मार भी डालते हैं, जब मनुष्य शरीर पाके वैसाही कर्म करते

हैं तो वे मनुष्य स्वभाव युक्त नहीं किन्तु पशुवत् हैं। और जो बलवान् होकर निर्बलों की रक्षा करता है वही मनुष्य कहाता है और जो स्वार्थ वश होकर पर हानि मात्र करता रहता है वह जानों पशुओंका भी बड़ा भाई है।"*

इस लिये मनुष्य योनिका आहार विचार और व्यवहार पशु योनि के समान वा उसके अनुकरण में होना कभी उचित नहीं हो सकता।

हेकील (Haeckel) महोदय ने (Riddle Of The Universe) (सृष्टिका रहस्य) लिखकर केवल एक जड़ पदार्थ वादका ही प्रचार किया और भोग योनिके हिंसा आदि कर्मोंका मनुष्य के लिए मानो आदर्श पाठ पढ़ाया है। योग शास्त्र में

भोग अपवर्गार्थं दृश्यम्

२। सू० १८

इस सूत्रमें महर्षि पातञ्जलि सृष्टिका प्रयोजन मनुष्यों को भोग और मोक्ष देने में साधन बनना बतलाते हैं। कहां यह आदर्श और कहां लाठी भैंस के सिद्धान्त का आदर्श!

यद्यपि पशु आदिकों की भोगयोनि है पर सर्व साधनों से पूर्ण है। कलकत्ते बंबई वा लंडन के बड़े हस्पताल में सर्व सामग्री और औषधि तथा पथ्यपान आदि के साधन Indoor Patient अर्थात् हस्पताल में रहनेवाले रोगियों के लिए, विद्यमान हैं। ईश्वर तो अनन्त ज्ञान अनन्त शक्ति अनन्त क्रिया और अनन्त सुधार का

---

* See Ocean of Mercy—By Mahatma Durga Prasad, of Lahore.

भण्डार है उस के चौरासी लाख योनिओंवाले हस्पताल में कोई त्रुटि नहीं हो सकती, यह हेतु ईश्वर को पूर्ण मान कर दिया गया है, पर जो ईश्वर को नहीं भी मानते वह भी युरुप के विद्वान् सिद्ध कर रहे हैं कि पशुओं की रचना विचित्र और अपने दशाओं के अनुकूल है । समुद्र के तल में जो मछलियें मिली हैं उन की आंखे नहीं होती, यदि इन मछलियों को जिन्होंने अन्धकार में रहना है, आखे दी जातीं तब तो उन की रचना दोषयुक्त हो जाती परन्तु अब यह बात स्पष्ट हो रही है कि उन की रचना छिद्रयुक्त नहीं । उत्तरीय ध्रुव के निकटवर्ती देशों में रहनेवाले पशुओं के बाल लम्बे होते हैं यदि ऐसा न होता तो यह पशु शीत से बहुत दुःख उठाते इस से ईश्वर का विज्ञानमय होना और पशुओं की रचना का देशकाल के अनुकूल पूर्ण होना सिद्ध होता है।

यह विचार कि पहिले जो जातिएं उत्पन्न हुईं वह अपूर्ण थीं और फिर उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग उन्नत होने लगे, किसी तरहसे ठीक नहीं, जो प्राणि समुद्र के जीवों पर निर्वाह करते हैं उनको जलमें न भीगने और तैरने के साधन दिए गए हैं और वंश परम्परा उनकी सन्तान में यही साधन चलेंगें, हम इनको कभी अपूर्ण नहीं कह सकते । साधारण मछलीकी रचना साधारण हो पर वह साधारण अवस्था और रचना एक विशेष प्रयोजन को पूर्ण कर रही है और वह कभी बदल नहीं सकती, वह दूसरों के लिए सहायक है यद्यपि स्थूलदर्शी पुरुष इस बात को अनुभव न कर सकें कि एक साधारण जीव सृष्टि में क्या उपकार कर रहा है पर ज़रा सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर सिद्ध होगा कि यह सब परस्पर एक दूसरे के सहायक हैं और एक के विना दूसरा जी नहीं सकता । जैसे कि

हमारे शरीर में पांओकी उङ्गलियों और शिर का संबंध है। जबतक मनुष्य जीता है उसकी पांओ की उङ्गलियां उङ्गलियां रहेगीं और शिर शिर ही। उङ्गलियों को अवनत अङ्ग कहना और शिर को उन्नत अङ्ग कहना यह भ्रान्ति है। और न कभी यह कल्पना करनी चाहिए कि पैर की उङ्गली अपना स्वरूप परिवर्तन करके शिर बनेगी। मैशीन के सब पुर्ज़े अपनी अपनी जगह नियुक्त काम करने के लिए बनाए गए हैं हम पहिए (Wheel) को कभी तुच्छ वा अपूर्ण वा अवनत नहीं कह सकते और न कभी यह आशा करनी चाहिए कि पहिया (Wheel) अपना स्वरूप बदल कर (Steam) भांप बन जायगा। एक मैशीन के लिए जहां भांप की ज़रूरत है वहां पहिए आदि चक्रों की कम ज़रूरत नहीं यदि पहिये न हों तो गाड़ी बराबर चल नहीं सकती यदि भांप न हो तो पहिए निकम्मे रहेंगे, मैशीन में एक एक पुर्ज़ा दूसरे का सहायक है एक छोटासा कील जो टूट जाए तो सारी मशीन भांप और चक्रोंवाली निकम्मी हो जाती है। यह बात सब जानते हैं ठीक इसी प्रकार इस विश्व के सब पदार्थ एक दूसरे के सहायक हैं, इस भूगोल पर जितने देह-धारी हैं वह एक दूसरे का उपकार कर रहे हैं, बनस्पति वृक्षादि न केवल मनुष्य आदि को फल अन्न पुष्प आदि द्वारा सहायता कर रहे हैं किन्तु वह विषैली हवा जिसको अंग्रेज़ी में अपानवायु (Carbon dioxide) कहते हैं उसको शोषन करते हुए उसविष के बदले में अमृतरूपी प्राणवायु (Oxygen) द रहे हैं। आज युरुप के विज्ञानियोंने इस बात को अनुभव करलिया है कि वृक्ष वायु शोधन के परम साधन हैं। यदि हम कल्पना करें कि यह वृक्ष जीवन की प्रथम श्रेणी हैं और इनकी रचना अपूर्ण है इसलिए इनको उन्नति करने की अथवा रूपान्तर होने की ज़रुरत है और हमारी कल्पना

आज फलीभूत हो जाय और पृथिवी पर सब वृक्ष मिटकर गोरीला बन्दर बनजाएं तो उस समय हमको पता लगजाए कि अब मनुष्य और गोरीला बन्दर मरने वाले हैं, यह कभी जी नहीं सकेंगे इसलिए ऐसी कल्पना तभी ही की जाती है जब हम या तो ईश्वर को अपूर्ण मानते हों अथवा ईश्वर रचित पदार्थों को उस दृष्टिसे न देख सकें, जिस के लिए यह बनाए गए हैं। जब हमारी विद्या उत्तम प्रकार की होगी तब हम एक घास के तिनके को अपने स्वरूप में पूर्ण और पृथिवी पर अपूर्व परोपकारी पाएंगे।

Jelly Fish (लोथड़ा मछली) मेंडक कौए कीट कृमि आदि सबही देहधारी अनेकानेक उपकार कर रहे हैं। हम अभी लिख चुके हैं, कि वनस्पति हमें फल अन्न के अतिरिक्त प्राण वायु के देनेवाली है, उस वनस्पति का आधार उन तुच्छ कृमियों के उपकार पर है, जो भूमिपर विचर रहे हैं। स्वयम् डारविन महोदय मुक्त कंठसे Earthworm कीट के उपकारों के यश में एक पुस्तक निर्माण कर चुके हैं, जिसका नाम 'The Formation of Vegetable Mould through the action of worms with observation on the habits' है। इसमें उन्होंने जो लिखा है उसका सार 'The Earthworm'* नामी एक लघु पुस्तक में उत्तमता से इस प्रकार दिया गया है॥

" 1. Their aid in the disintegration of rocks.

2. In the denudation of the land.

3. In the preservation of ancient remains.

---

* The Earthworm. By Dodany. S. A. page 42.

4. In the preparation of the soil for the growth of plants.
5. Mental powers of worms."

" Earthworms have played a more important part in the history of the world than most people would at first suppose "

(अर्थ)—१. चटानों के तोड़ने में उन (कीड़ों) की सहायता।

२. ज़मीन का उपरी भाग खुर्चनेमें ।

३. प्राचीन काल के खंडरों के सुरक्षित रखने में ॥

४. पौदों के उगने के लिए मट्टी को तय्यार करने में।

५. कीड़ों की मानसिक शक्तियां ॥

साधारण मनुष्य पहले जो ख्याल करेंगे उससे बढ़कर कीड़ोंने संसार के इतिहास में काम किया है.

चारलिस डारविन ने उसी पुस्तक में लिखा है कि यह कीड़े कर्णेन्द्रिय से सर्वथा रहित होते हैं और दर्शाया है कि इङ्गलैण्ड के बहुत से भागों में १० टन (२८० मन) से अधिक सूखी मट्टी यह अपने शरीरों से निकाल कर खेती के लिए रख देते हैं ।

" Worms prepare the ground in an excellent manner for the growth of fibrous rooted plants and seedlings of all kinds......................They mingle the whole intimately together like a gardener who prepares fine soil for his choicest plants" *

---

* See 'The Earthworm' by Dodany. S. A. page 47.

(अर्थ)--रेशेदार जड़वाले पौदों के उगने के लिए कीड़े ज़मीन को उत्तम रीति से तय्यार करते हैं................वह सबको खूब मिला देते हैं, एक माली की तरह जो बारीक मट्टी सबसे उत्तम पौदों के लिए तय्यार करता है।"

इन कीड़ों के उपकार की तरफ दृष्टि कीजिए, पौदों के सड़े हुए पत्ते खाकर अपने मल की न्याईं ऐसी शुद्ध मट्टी तय्यार करें जो पौदों के लिए जान का काम दे और बनस्पति शास्त्र अथवा Agricultural College कृषि महाविद्यालय के पढ़े हुए विद्वान् माली की न्याईं ऐसी ऐसी क्रिया करें जिससे मट्टी पौदों के उगने के लिए लाभकारी सिद्ध हो॥

अब यदि कोई डारविन मतानुयायी महाशय कल्पना करे कि यह कीड़े बहरे हैं, तथा रींगते हैं इस लिए, अवनत दशा में हैं और इनको हिरन की तरह कानों की ज़रूरत है, और यह कीड़े स्वरूप परिवर्तन करके उन्नत दशा में पहुंचने के लिए हिरन गोरीला वा मनुष्य बन जाएं और कल्पना करो कि सब कीड़े हिरन बन गए, तो हिरन को खाने के लिए जो पौदे चाहिएं और जिन पौदों को तय्यार करने के लिए यह कुदरत के अनन्त माली रात दिन काम करते थे, वह न रहे तो पौदों के न उगने से यह हिरन आदि क्या खाएंगे ? उस समय हम को प्रतीत होगा कि हमारा यह विचार दूषित था कि कीड़े बहरे तथा रींगने वाले हैं इस लिए इनको हिरन केसे कान और हिरनकीसी टांगोंकी आवश्यकता है। डारविन महोदय ने कीड़ों के लाभ दर्शाने से बड़ा उपकार किया है किन्तु उनके उन विचारों के अनुसार यह बात विरोधरूप से खड़ी हो जाती है। आज तक एक भी कीड़ा जीते हुए अपने

स्वरूप को परिवर्तन करके हिरन तो क्या सांप भी बन नहीं सका इस लिए सृष्टि इस कल्पना की पोषक नहीं है, जिस बात का सृष्टि में उदाहरण न मिल सके वह बात सत्य नहीं हो सकती ॥

इस स्थल पर हम मानव धर्मशास्त्रका वर्णन किए विना नहीं रह सकते जिसमें आर्य ऋषि मनु ने भूतयज्ञ के वर्णन में यह कहा है

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥

मनु० ३ । ९२ ॥

कुत्ते पापी चाण्डाल पापरोगी कौए और कृमि सबको अन्न भाग देना चाहिए ॥

महर्षि मनु की दृष्टि में मालूम होता है कि कृमि भी उपकारी होने से सहायता तथा दया के पात्र हैं । डारविन महोदय ने एक स्थल पर यह भी लिखा है कि जब हल नहीं था तो यह कीड़े ही हल चलाने का काम दे रहे थे अर्थात् यह कुदरत के हल चलाने वाले हैं । कीड़ोंके इतने उपकार मानकर फिर कोई उन को यह कह सकता है कि यह योनि विशेषकाम के लिये निर्मित नहीं हुई। जब हुई, जैसा कि उनके काम देख कर सिद्ध हो रहा है तो मानना पड़ेगा कि इनको अवनत कहने का कोई अधिकार नहीं है । आवश्यकता है कि हम इस बातको अनुभव करें कि यह विश्व एक महान् शरीर अथवा महान् यंत्र है जिसका एक एक अङ्ग प्रत्यङ्ग भी निष्फल नहीं । एक जाति की व्यक्तियों में उन्नत शब्द का व्यवहार ठीक है । किसी अङ्ग को निकम्मा नीच अवनत निष्प्रयोजन

नहीं कह सकते। जिस प्रकार मशीन का एक कील नियत प्रयोजन रखता है उसी प्रकार मछली मेंडक कृमि कीट सांप पक्षी पशु सब अपने कार्य विशेष के लिये विशेष साधनोंसे युक्त शरीर रखते हैं और जिस प्रकार Chance (इत्तफाक) कहना साइन्स की दृष्टि में अपनी अज्ञानता का प्रगट करना है, उसी प्रकार मछली मेंडक कृमि कीट सांप पक्षी पशु किसी की आकृति वा रचना को अपूर्ण कहना, अपनी अज्ञानता को प्रगट करना है। विश्व रूपी यंत्र के निर्माता की तरफ से कीट रूपी पुर्जों को बहरा रखा गया है और ऐसा करने में इन्जीनियर रूपी ईश्वरने अपने परम विज्ञानका बोधन कराया है, समुद्र की तलेटी की मछलियों को उसी विज्ञानी ने उद्देश्य विशेष के लिए अन्धा बनाया है। तोतों को पकड़ने वाले पञ्जे और हंस बकादिकों को तैरने वाले पैर उसीने दिए हैं, इस लिये उत्क्रान्ति वा विकास वाद की कल्पना करना मानो रचना को न समझना है। प्रत्येक योनि अपने काम के लिए उन्नत है, पूर्ण है, छिद्र रहित है क्या मज़ाल कि लाख विज्ञानी भी मिलकर उस को कभी स्वरूप परिवर्तन से उन्नत दशा में लाकर दिखा सकें और यदि कभी स्वरूप परिवर्तन आरम्भ हो जाता जैसा कि विकासवादी कल्पना करते हैं तो आज संसार की मृत्यु हो जाती। **प्रत्येक योनि उसी योनि के स्वरूप में बनी रहे जिसके लिए वह निर्माण की गई है, इसी में उसका और सबका जीवन है।** आस्तिकोंका यह inter-dependence (अङ्ग अङ्गी भाव) का सिद्धान्त डारविन के कल्पित विकासवाद का भारी खण्डन करने वाला है॥
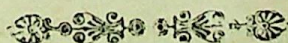
तृतीय अध्याय

व ही यंत्रकार (Engineer.) स्तुतिका पात्र है, जो अपने यंत्र के पुर्ज़े मज़बूत बनाता है।

कलाभवन में हमने देखा कि विद्यार्थीगण जो यंत्रशाला (Engineering Class) में पढ़ते हैं, वह प्रथम यंत्र अंग (पुर्ज़े) बनाना सीखते रहते हैं, जब उनका हाथ निपुण हो जाता है तो फिर **सांचे** बना उनमें पुर्ज़े ढालते हैं। पुर्ज़ों का मज़-बूत बनाना, कारीगर की भारी खूबी गिनी जाती है। बंबई अहम-दाबाद में सैंकड़ों कलें Guarantee (आश्वासन् वा ज़मानत) पर बेची जाती हैं जिनका तात्पर्य्य यह होता है, कि यदि अमुक समय से पूर्व, कल का पुर्ज़ा घिस जाए तो उसकी जवाबदारी (जोख़म) बेचनेवाले के शिर होगी। ईश्वर जो कि अनन्तविद्या और अनन्त शक्तिमय है उसने आदि सृष्टि के जीवों के शरीररूपी पुर्ज़े ऐसे उत्तम तथा दृढ़ बनाए हैं कि जिनका विचार करते हुए मनुष्य की बुद्धि चकित रह जाती है। हम उनको '**पूर्णसांचे**' का नाम दे सकते हैं। प्रत्येक शरीर को इन्जिन (कलायंत्र) की न्याईं आहार की आवश्यकता है और प्रत्येक शरीर अपने में से मलिन पदार्थ निकाल कर इसको शुद्ध रखता है। मनुष्य की टांगें और हाथों की रचना Mechanics यांत्रिक गति के पाठ बड़े बड़े शिल्प-शास्त्रियों को पढ़ा रहे हैं। Nervous System (नस विभाग) की रचना, तार घर का गुरु बन रही है। आंख की बनावट समझ कर मनुष्य ने फोटोग्राफी का शिक्षण लिया। Encyclopœdia

Britannica (अंग्रेजी विद्या विश्वकोश) में विमान रचना का वर्णन पढ़ने से, एक निष्पक्ष बुद्धिमान् इस बातको स्वीकार किए विना नहीं रह सकता कि नाना पक्षियोंके परों के आकार और व्यवहार को समझने से ही एक शताब्दी के अन्दर नाना प्रकार के विमान मनुष्य बनाने में सामर्थ्य हुआ है। मोर और तोतों के रङ्गों को देखकर बड़े बड़े रसायनशास्त्री चुप हैं। कीड़ों और तीतलियों के रङ्ग न केवल युरुप की स्त्रियों को मुग्ध कर रहे हैं किन्तु कर्त्ता की महिमा को बता रहे हैं।

सृष्टिमें प्रत्येक शरीरधारी का शरीर जो पुर्ज़ारूपी है ऐसा बनाया गया है कि वह अमुक प्रयोजन को सहज से पूर्ण कर सके, और जिस समय तक उसने प्रयोजन को पूर्ण करना है उस समयतक वह पुर्ज़ा दृढ़ होने से बराबर टिका रहे और समय से पूर्व घिस न जाए। इसीलिए योगशास्त्र में कहा गया है कि

सति मूलेतद्विपाको जात्यायुर्भोगाः

२। सू० १३.

अर्थात् कर्मभोग होने पर जाति, जातिकी आयु और उसका सुखदुःखादि भोग तथा उसका साधन मिलता है।

इसका तात्पर्य्य यह है कि अमुक जातिके प्राणि अमुक काल तक जी सकते हैं। मनुष्य जाति की आयु १०० (सौ) वर्ष की है और निम्न लिखित प्राणियों की आयु का व्योरा इस प्रकार है।

बन्दर............२१ वर्ष
सहा (शशक).... ८ ,,
कुत्ता ....१४ ,,

सर्प ....१२० वर्ष

कछवा ....१९० ,,

शरीर Chance अथवा विना कारण नहीं मिलता। जीव के भोग कर्म उसका एक कारण और दूसरा कारण ईश्वर है। कर्मानुसार नाना शरीर मिले हैं। किसी जाति के प्राणी का शरीर अमुक समय तक रहता है यह प्रत्यक्ष देखने में आता है। शरीर को वृद्धि, स्थिति और मृत्यु के तीन नियमों में विवश चलना पड़ता है। यदि "स्वाभाविक-निर्वाचन×" से ही शरीर मिलता है और जीवके कर्म तथा ईश्वर की सत्ता का इनसे संबंध नहीं, तो फिर जितना शरीर मनुष्य का २० वर्ष की आयु तक बढ़ा था उसी लेखे से आगे भी बढ़ना चाहिये। आगे बढ़ने से क्यों रुक गया?' "स्वाभाविक निर्वाचन×" तो उत्क्रान्ति वा उन्नति ही करना चाहता है, फिर कभी संभव है कि यह शरीर को बढ़ने से रोक दे, जब भोजनादि वह पदार्थ जिन को खाकर २० वर्ष तक शरीर बढ़ा था क्या वह जगत् में नहीं रहे? वह तो बराबर हैं, वह शक्ति जो इन पदार्थों को भोग करती थी वह शरीरमें है, वह नियम जो उत्क्रान्ति वा उन्नति कराना चाहता है वह भी मौजूद है। फिर कोई विकासवादी हमें दर्शावे कि यह वृद्धि क्यों रुक गई? २० वर्ष की आयु तक मनुष्य का शरीर ६ फीट बढ़ा है, इस हिसाबसे ३० वर्ष की आयु में

९ (नौ) फीट

हो ही जाना चाहिये। इस का उत्तर कोई भी जड़वादी नहीं दे सकता। उत्क्रान्ति, विकास, वृद्धि वा उन्नति

× Natural-Selection.

एक सीमा

पर आकर क्यों ठहर गई ? विकास वादी ध्यानसे सोचें। यदि कोई यह उत्तर दे, कि २० वर्ष तक शरीर लंबा होता, फिर स्थिर होजाता और ६० वर्ष से निर्बल होने लगता और यही सृष्टि नियम है। तब इसके उत्तर में हम कहेगें कि यदि यही नियम है तो फिर केवल उत्क्रान्ति वा वृद्धि सृष्टिका नियम है ऐसा आप क्यों कहते हो ? उस दशा में आप

वृद्धि, स्थिति और क्षय

यह तीन नियम कहें। हमारा प्रश्न तो फिर यह होगा कि आपतो

स्वाभाविक-निर्वाचन

(Natural Selection) द्वारा ही सर्व रचना मानते हो और जीव, कर्म, तथा ईश्वर सत्ता की ज़रुरत नहीं समझते, यह आपका मन्तव्य है। मालूम हुआ कि आपका स्वाभाविक-निर्वाचन, सदैव विकास वा उन्नति करनेमें सामर्थ्य नहीं है।

इसके प्रभावके होते हुए आप

वृद्धि, स्थिति और क्षय

के त्रिविध अखंड नियम अनुभव कर रहे हैं और नहीं बतलाते कि स्वाभाविक-निर्वाचन को उन्नति करते करते किसने रोक दिया और फिर प्राणी का शरीर दूसरे नियम का वशवर्ती कैसे हो गया और यह नियम भी जब काम करचुका, तो फिर प्राणी का शरीर क्षय वा मृत्यु को क्यों प्राप्त होता है, जो कि तीसरा नियम है।

इसका उत्तर आस्तिक ही दे सकते हैं, कि जीव और ईश्वर दोनों ऐसी चेतन सत्ता हैं जो जड़ निर्वाचन को वशमें करते हैं और प्रकृति उनके वशमें हो जाती है। सब जानते हैं कि मनुष्य के शरीर में सब से भारी अंग शिर है और शिर की स्थापना ऊपर को है। भू-आकर्षण के कारण लहु को जिसमें अधिक भाग जलका है ऊपर चढ़ने में, भू-आकर्षण के विरुद्ध चेष्टा करने से, संकोच होना चाहिये। पर जीवात्मा की सत्ता मात्र से लहु सहज से शिर में चढ़ता और भू-आकर्षण के विरुद्ध चेतन जीवात्मा की सत्ता सहज से काम कर सकती है।

भू-आकर्षण पार्थिव तथा जलमय पदार्थों को अपनी तरफ सदैव आकर्षण करने की शक्ति रखती है, पर इन पदार्थों को अपने से परे हटाने के असमर्थ है। यदि वह एक प्रकार की शक्ति रखती है, तो दूसरी नहीं रखती। चुंबकमणि लोहे को अपनी तरफ सदैव खैंचती है पर अपने से परे हटाने की दूसरे प्रकारकी शक्ति इसमें नहीं।

घोड़ा जिस गाड़ी को खैंच रहा है, थोड़ी दूर चलकर इसका मन बदल जाता है अर्थात् यह अड़ बैठता है, एक पग आगे नहीं चलता, सवार और गाड़ी दोनों को दोलत्ते मारता है और ज़मीनपर गिरकर वहीं लेट जाता है। वह घोड़ा जो गाड़ी को खैंच रहा था अब गाड़ी को वही

स्थित कर रहा

है और यदि उसके मनमें आवे तो वही घोड़ा उठकर फिर गाड़ी को उधर ही अड्डे की तरफ ले भागे, जहां से वह लाया था। इस

दृष्टान्त से सिद्ध होता है कि घोड़ा ऐसी शक्ति है, जो तीन प्रकार की भिन्न भिन्न गति कर सकता है।

एक गति तो गाड़ी को

स्थान क, से—ख तक ले जाने की।

दूसरी गति स्थान(क) से चलकर (ख) के मध्यमें रख देने की।

तीसरी गति स्थान (ख) वा मध्यवर्ती स्थान से पीछे वा अन्यत्र लेजाने की। और भी अनेक प्रकार की गतिएं हो सकती हैं। हम तीनको ही लेते हैं।

घोड़े में चेतन जीव है और जिस की सत्ता के लिये वही दृष्टान्त काफी है जो हम कीड़ी वा गुड़ का चित्र खैंच कर पूर्व दे आए हैं।

बड़ोदा में एक दिन एक मुसलमानभाई पालतु तीतर को सड़क पर से पिंजरा दिखा पीछे पीछे ला रहा था, तीतर के मार्ग में कोई भी गाड़ी वा मनुष्यादि का विघ्न नहीं आया, तिसपर भी तीतर उड़कर ऊपर इमली के वृक्षपर जो एक बंगलेके अन्दर था जा बैठा, यह मुसलमान भाई दो घंटे वृक्षके नीचे पिंजरा दिखा दिखा उस को पुचकारता रहा और ज़मीनपर बुलाने का यत्न करता रहा।

दो घंटे के पीछे तीतर स्वयं ही नीचे उतरा। यदि तीतर जड़ पदार्थ होता तो पिंजरा रूपी चुंबक के पीछे लोहे के समान खिंचा चला जाता और विघ्न आनेपर स्वयंही अटका रहता। पर तीतर के मन में जिस समय उड़ने का विचार आया वह उड़ कर वृक्षपर जा बैठा और जब जी चाहा तब ही उतरा।

मन के अनुसार गति करने की शक्ति इस तीतर में थी और सब ही जंगम देह धारियों में है।

शरीर से मन के अनुसार नाना प्रकार की गति करने की सत्ता एक पशु वा मनुष्य में है। पर कोई जीव अपनी वा अपने माता पिता की इच्छानुसार शरीर को धारण नहीं करता। मां भला ही अभिमान करे कि मैं बच्चे की जन्मदातृ हूं पर वह, जब कि बच्चा, उस के गर्भ में है नहीं कह सकती कि उस का अमुक अंग किस रूप में बन रहा है।

सब मनुष्य अपने शरीरों का अभिमान भला ही करें, किन्तु कोई नहीं कह सकता कि हमारे शिर के अन्दर का रूप क्या है वा कोई भी अपनी आंख वा अपनी पीठ को "स्वाभाविक" रीत से नहीं जानता। कौन प्रत्यक्ष रूप से जानता है कि भोजन जो पच रहा है उस का रूप क्या है?

फिर हमें यह भी पूरा अभिमान नहीं कि यह शरीर हमारे मन के अनुसार ही सर्वथा चले। हम से बढ़ कर जो महान् चेतन शक्ति है उस की मन शक्ति इस को अपनी इच्छा वा ईक्षण के अनुसार पूर्ण रूप से चला रही है। जिस समय मनुष्य का शरीर वृद्धि की अवस्था में होता है, उस समय मनुष्य इस की वृद्धि से प्रसन्न होते हैं और चाहते हैं कि यही वृद्धि अवस्था सदैव बनी रहे। पर सब मनुष्यों की इच्छा के विरुद्ध इस शरीर में दूसरी

स्थिति

की अवस्था आ जाती है। उस पर भी मनुष्य संतोष करते हैं और चाहते हैं कि यही दूसरी स्थिति की अवस्था सदैव बनी रहे।

अमीर और राजा लोग नाना प्रकार के बलिष्ट भोजन खाते, डाक्टर हकीमों से पुष्ट औषध लेते और चाहते हैं कि हम पर तीसरी वृद्धावस्था कभी न आवे और हम कभी न मरें। पर सब मनुष्यों की इच्छा के विरुद्ध, सब के प्रयत्न के विरुद्ध वृद्धावस्था सब पर आती है। चक्रवर्ती-सम्राट भी वृद्धावस्था और अन्तमें मृत्यु से बच नहीं सकता। कोई भी मनुष्य नहीं चाहता कि मेरा शरीर मृत्यु का ग्रास हो, पर मरना सब को है।

जड़ पदार्थों में जिस प्रकार की शक्ति है, उस से बढ़ कर अनेक प्रकार की गति करने की शक्ति घोड़े, तीतर, मनुष्यादि सब शरीर धारियों में है। पर इन के शरीर वृद्धि, स्थिति और मृत्यु इन तीन नियमों के आधीन हैं। मृत्यु कोई प्राणि नहीं चाहता पर इन सब की इच्छा के विपरीत, जिस की प्रबल इच्छा पूर्ण हो रही है, वही शक्ति ईश्वर की है और वह न केवल एक शरीर को वृद्धि, स्थिति और मृत्यु के त्रिविध नियमों में चला रही है, किन्तु वही अनन्त शक्ति, असंख्य सूर्य्य, चन्द्र, तारा, पृथिवी, लोक लोकान्तर आदि को उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के उन्हीं त्रिविध नियमों से शासन कर रही है। अतः शरीर रचना वा शरीर वृद्धि के संबंध में यह कहना कि स्वाभाविक—निर्वाचन ही काम कर रहा है, ठीक नहीं। हम आस्तिकों से कोई पूछे कि क्यों शरीर २० वर्ष तक ६ फीट बढ़ कर फिर रुक जाता है, तो हम उस का उत्तर दे सकते हैं कि वह चेतन महान् शक्ति चुंबक की न्याई जड़ शक्ति नहीं जो चुंबक को अपनी तरफ़ खैंच ही सकती है और उसका बीचमें रोकना वा पीछे हटाना जिस के सामर्थ्यसे बाह्य है। यह महान् चेतन

शक्ति जिस पदार्थ के परमाणुओं को आकाश में किसी तरफ इकट्ठा करना आरंभ करती है तो उस वस्तु की उत्पत्ति वा वृद्धि होने लगती है। जब यह महान् शक्ति अमुक समय के पीछे वृद्धि बंद कर देती है तो स्थिति अवस्था आरंभ हो जाती है। जब यही महान् शक्ति स्थिति अवस्था से उस को भिन्न स्वरूप में लाने के लिये पृथक् पृथक् कर देती है तो उस की प्रलय वा मृत्यु हो जाती है।

जब एक घोड़ा, गाड़ी के संबंध में तीन प्रकार से क्रिया कर सकता है, तो विश्व के सब प्राणि, पदार्थोंपर, ईश्वर अनन्त ज्ञानमय तथा अनन्त क्रियावान् होने से त्रिविध क्रिया करना चाहे तो, क्यों न कर सके ? इस लिये वृद्धि की अवस्था में शरीर एक सीमा तक ही बढ़ता है, क्यों कि महान् चेतन शक्ति उस को आगे बढ़ने देना अपने प्रयोजन के विरुद्ध समझती है। जैसा चेतन अनन्त शक्तिने नियम कर रखा है, वही होता है और स्वाभाविक निर्वाचन कितना चाहे कि शरीर बढ़ता जाए विवश कुछ नहीं कर सकता।

वृद्धि, स्थिति और मृत्यु यह तीन नियम शरीरों पर काम कर रहे हैं न कि एक। ईश्वरीयनियमद्वारा शरीर में जीव अपने कर्मों के कारण आता है। इस शरीर में आने से वह पूर्वजन्म में किसी शरीर में था और मरने के पीछे किसी शरीर को पावेगा यह हमें विचार करना होगा।

पूर्वजन्म को सिद्ध करने के लिये यहां दोही बातें लिखनी बस हैं।

(क) उत्पन्न हुआ बछड़ा अथवा मानवी बच्चा दूध के लिये चेष्टा करता और मा का स्तन चिचोड़ने के लिये (विना उसको चिचोड़ना सिखाने के) मुखसे चेष्टा करता है । नये नगर बंबई वा पूना में एक मुसाफिर, जिसने पहिले वह नगर कभी नहीं देखे मार्ग न जानने से पग रखने से संकोच करता है । पर जो दो वर्ष बंबई में रह गया है वह अभ्यासित हो जाने से, विना यत्नही रमणीय चोपाटीतट पर पहुंच सकता है । जन्मान्तरों के संस्कार जो भोजन संबंधी हैं, वह उस समय विना शिक्षा के ही जागृत हो जाते हैं । यह उस के पूर्वजन्म को सिद्ध करने के लिये एक हेतु है ।

(ख) एक ही श्रेणी में बीस बालक पढ़ते हैं । कोई तीव्र बुद्धि, कोई मन्द बुद्धि सिद्ध होता है । कोई कणाद ऋषि बनता है और कोई मुनि एडिसन के रूप में ग्रेमोफोन आदि रच, विद्युतविद्या का धनी होता है । एक से गुरु के होने पर एक सा शिक्षण देने पर यह भेद क्यों ? मानना पड़ेगा कि जो इस समय आविष्कार करता है, उसने पूर्वजन्म में अमुक विद्या का विशेष अभ्यास किया था । जिसके उत्तम संस्कार उसके सूक्ष्मशरीर में रह गये और अब स्फुरित होने लगे ।

वायुरनिलममृतम§....यजुर्वेद के इस मंत्र की व्याख्या करते हुए महात्मा श्रीपण्डित गुरुदत्तजी एम. ए. इस से " सूक्ष्मशरीर " का वर्णन करते हैं । श्रीयुतराय ठाकुरदत्तजी इसी मंत्र की दूसरी व्याख्या जीवात्मा संबंधी करते हैं । दोनों व्याख्याएं उत्तम और युक्तियुक्त हैं । इसी " सूक्ष्मशरीर " को अमेरीका के योगी

---

§ यजु० अ० ४० मंत्र, १५.

एन्ड्रो जैकसन डेविस महोदय स्प्रिचुअल बोडी (Spiritual Body) का नाम देते हैं और अपनी अनेक पुस्तकों में लिखते हैं कि जितने भी भले बुरे कर्म मनुष्य करता है, उसके भले वा बुरे Impressions (संस्कार) इस पर सदैव पड़ते रहते हैं और यही मनुष्य के कर्मों का Record (नोंधबही) है।

पुनर्जन्म के सिद्ध करने के लिये यहांपर दो ही हेतु देने काफी होंगे—

(क) मनुष्य का मन वा इच्छाशक्ति बूढ़े वा कमज़ोर होने-पर भी बूढ़ी नहीं होती। यजुर्वेद में मन को अजर कहा है। जिन की दृष्टि वृद्धावस्था के कारण अतीव मंद पड़जाती है वह भी इच्छा रखते हैं कि हमारा इलाज हो ताकि हम देखसकें, वह देखनेवाला मन जो " अमर आत्मा " का साधन है, वह कभी वृद्ध नहीं होता यह सब के अनुभवसिद्ध बात है। वृद्धावस्था में शरीर के निर्बल होने पर विचार प्रबल होते हैं, इसी लिए राज्यमंत्री वृद्ध ही रखे जाते हैं।

(ख) जिन इच्छाओं के तीव्र वेग मन में हैं और उन की पूर्ति का साधन नहीं मिला, उन की तृप्ति मरण के पीछे दूसरे शरीर में ही, हो सकती है। जिन पापों को हमने दूसरे से बचा कर किया है यदि उनका फल हम इस जन्म में नहीं पा चुके तो उनका फल भोगने के लिये दूसरा शरीर चाहिये।

इस लेख का मतलब केवल यह है कि यह शरीर चाहे मनुष्य का हो वा किसी पशु का विना कारण अथवा chance से

नहीं मिलता, अमुक वासनाओंकी तृप्ति करने तथा शुभाशुभ कर्मों के सुख दुःख रूप फल भोगने के लिये ही देह मिलती है।

हम ऊपर दिखा चुके हैं कि प्रत्येक प्राणी का शरीर उत्पत्ति, स्थिति और मृत्यु, तीन अखंड नियमों के आधीन है और कर्मों के फलभोग के लिये सकारण ईश्वर ने **भिन्न भिन्न रचा है।**

उत्पत्ति स्थिति और क्षयके उक्त त्रिविध नियमों का उत्तम वर्णन मानवधर्मशास्त्र अध्याय १२ के श्लोक १२४ में इस प्रकार मिलता है

एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्यमूर्तिभिः।
जन्मवृद्धि क्षयैर्नित्यं संसारयतिचक्रवत्॥

अर्थ—यह परमात्मा सब जीवों को पञ्चमहाभूतों से व्याप्त करा कर नित्य चक्र के समान जन्म वृद्धि क्षयों से घुमाता है॥

शरीरों के नाना रूप होने के कारण जीवों के नाना प्रकारके कर्म हैं।

इस लिये यह शरीरों के नानारूप वा आकृति Chance अकस्मात् वा भूल से नहीं बनाए गये। जिस के कर्म मोर के शरीर में जाने के हैं उस को मोर का शरीर मिला है।

प्रत्येक शरीर जो वृद्धि, स्थिति और मरण के नियमों में बद्ध है वह मानो ईश्वरीय अद्भुत यंत्र है। ईश्वरने प्रत्येक अनोखे शरीर में एक ऐसा विचित्र पुर्ज़ा जड़ दिया है जिस के द्वारा

शरीर का सार निकल कर बीज वत काम दे और नरनारी के बीज मिलकर वैसाही शरीर बनाने में साधन हो सकें।

आजतक ऐसी घड़ी कोई नहीं बना सका कि दो घडिएं मिलकर अमने समान एक तीसरी बच्चा घड़ी बना सकें। पर प्राणियों के शरीर सचमुच विचित्र कला हैं जो एक जाति के दो शरीर मिलकर तीसरा बच्चारूपी शरीर बना सकें।

Protoplasm ओज, अंग अंग से उत्पन्न हुए वीर्य्य का सार है वही जीवनाधार है। मनुष्यकृत मशीन से मशीन आजतक नहीं बनी, पर यह ओजमय शरीररूपी मशीनें बनाने वाले ईश्वरने ऐसी विचित्र बनाई हैं कि इन से आगे शरीररूपी मशीन बने।

अब हमें दो बातों पर विचार करना है, प्रथम हम पहिली बात को लेते हैं अर्थात् ईश्वरने पहिले पहिल किस प्रकार किस उद्देश्य को लेकर शरीर रचना की ? हम देखते हैं कि घड़ी बनाने वाला एक एक पुर्ज़े को बना, उन सब को इकट्ठा लगा घड़ी बनाता है। यह अवस्था आदि अमैथुनि सृष्टि की समझनी चाहिए। टकसाल में पहिले

सांचा

बनाया जाता है, फिर इस सांचे से सिक्का ढ़ाला जाता है मोहरें रुपए और पैसे ढ़ालने के सांचे पृथक् पृथक् बनाए जाते हैं। प्रत्येक सांचा जितना उत्तम दृढ़ बनाया जाता है उस के दृष्टान्त कलाभवन आदि कोलेजों में हम रोज़ देखते हैं। सांचे में से जो मोहरें रुपए और पैसे पहिले निकलें वह अति उत्तम और चिरस्थायी होते हैं। आदि सृष्टि में चौरासी लाख प्रकार के सांचे बनाए गए

और ईश्वर ने इन मैशीनरूपी सांचों में ऐसे पुर्जे जड़ दिए, जिस से प्रत्येक सिक्का आगे सिक्का बनाने के लिए सांचे का भी काम दे सके। जो मनुष्य पहिले सांचे की न्याईं बनाए गए थे, उन के शरीर जिस दर्जे के उत्तम और पुष्ट हो सकते हैं, उतने उनमें से उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के नहीं हो सकते। यदि कभी आदि सांचे से निकले हुए पहिले सिक्कों के समान और सिक्के भी निकलते जाएं तो कोई हरज नहीं। पर बीच के वा अन्त के सिक्के आदि सिक्कों के समान हो सकते हैं उस से बढ़ कर आगे नहीं जा सकते। सांचे का आकार निःसन्देह उन सिक्कों से विलक्षण पुष्ट और अवश्यमेव

बड़ा

होना चाहिए। यह बात प्रत्यक्ष है, इस में कोई विवाद नहीं कर सकता। इस दृष्टान्त से हम कह सकते हैं कि वह प्राणि जिन के शरीर माता पिता के संयोग के विना आदि सृष्टि में ईश्वरने रचे उन्होंने

सांचों

का काम किया और इसी लिए आदि अमैथुनि सृष्टि के जीव देव, साध्य और ऋषि कोटि के थे ऐसा हम यजुर्वेद अध्याय ३१ में पाते हैं। देव, साध्य और ऋषि यह मनुष्य की उन्नत परमावधि को पहुंची हुई तीन अवस्थाओं के तीन नाम हैं। सांचों का आकार और बनावट निस्सन्देह उसमें से निकलनेवाले सिक्कों के लिए

आदर्श

का काम देता है।

हम देखते हैं कि एक साधारण कारीगर बिजली की मशीन उतनी अच्छी नहीं बना सकता, जितनी के देव कोटि का मनुष्य एडिसन अमेरिका निवासी बना सकता है। इस का क्या कारण है, इसका कारण यही है कि एक साधारण कोलेज के विद्वान् से एडिसन की दर्शन शक्ति वा वैज्ञानिक मननशक्ति अधिक है। एडिसन को ईश्वरने बनाया है, उस ईश्वर ने जिस ने बिजली को भी रचा है। करोड़ों एडिसन मिलकर उस ईश्वर के ज्ञान और कर्म का मुकाबिला नहीं कर सकते। बिजली के ७० प्रकार के यंत्र बनाने वाला एडिसन, उस महान् शक्ति के नियमों के आगे हाथ बांधे खड़ा है। एडिसन चाहे कि वह स्वयं मृत्यु को प्राप्त न हो तो उस के सामर्थ्य से बाहर है। एडिसन चाहे कि लोग विना मातापिता के संयोग से अब उत्पन्न हुआ करें तो वह ऐसा नहीं कर सकता।

एडिसन के ग्रेमोफोन (शब्दधारकयंत्र) को हम रात दिन आलापते देखते हैं, पर एडिसन ने किस प्रकार इस का प्रथम रचन किया यह बात समझना क्या सहज है? एक विद्वान् मनुष्य का चमत्कारिक यंत्र मनुष्य को मुग्ध कर रहा है, तो परम विज्ञानी ईश्वरने जो आदि सृष्टि में पहिले ८४ लाख प्रकार के **सांचे** रचे, इस उद्देश्य से कि यह सजीव सांचे अथवा देहधारी आगे को अपने में से ही बच्चे पैदा किया करें तो उस चमत्कारमय रचना को समझते हुए हम आश्चर्य के सागर में यदि सब ही निमग्न हो जावें तो कुछ भी अचंभा नहीं।

आदि अमैथुनि सृष्टि के सर्व शरीर सांचें समझने चाहियें।
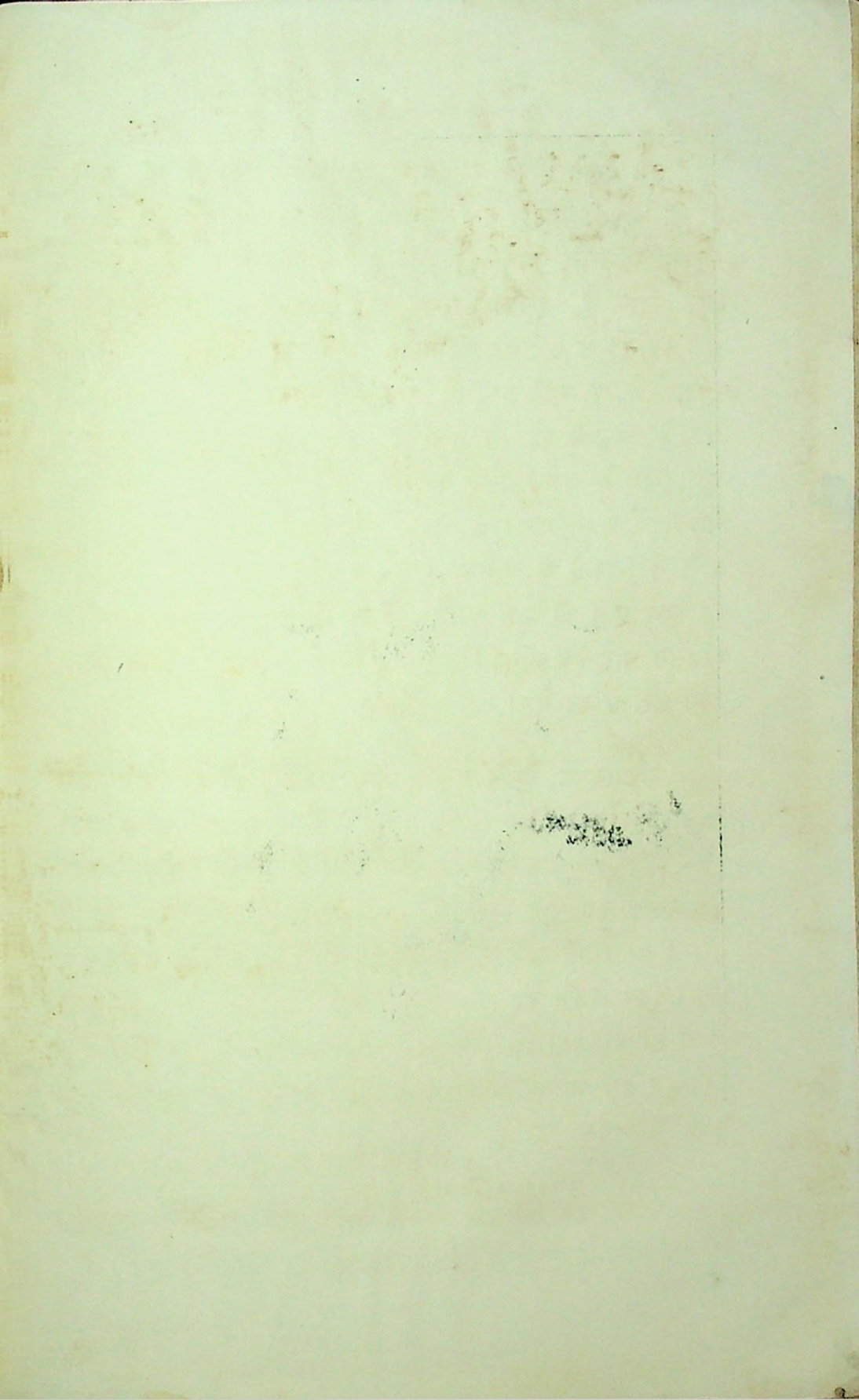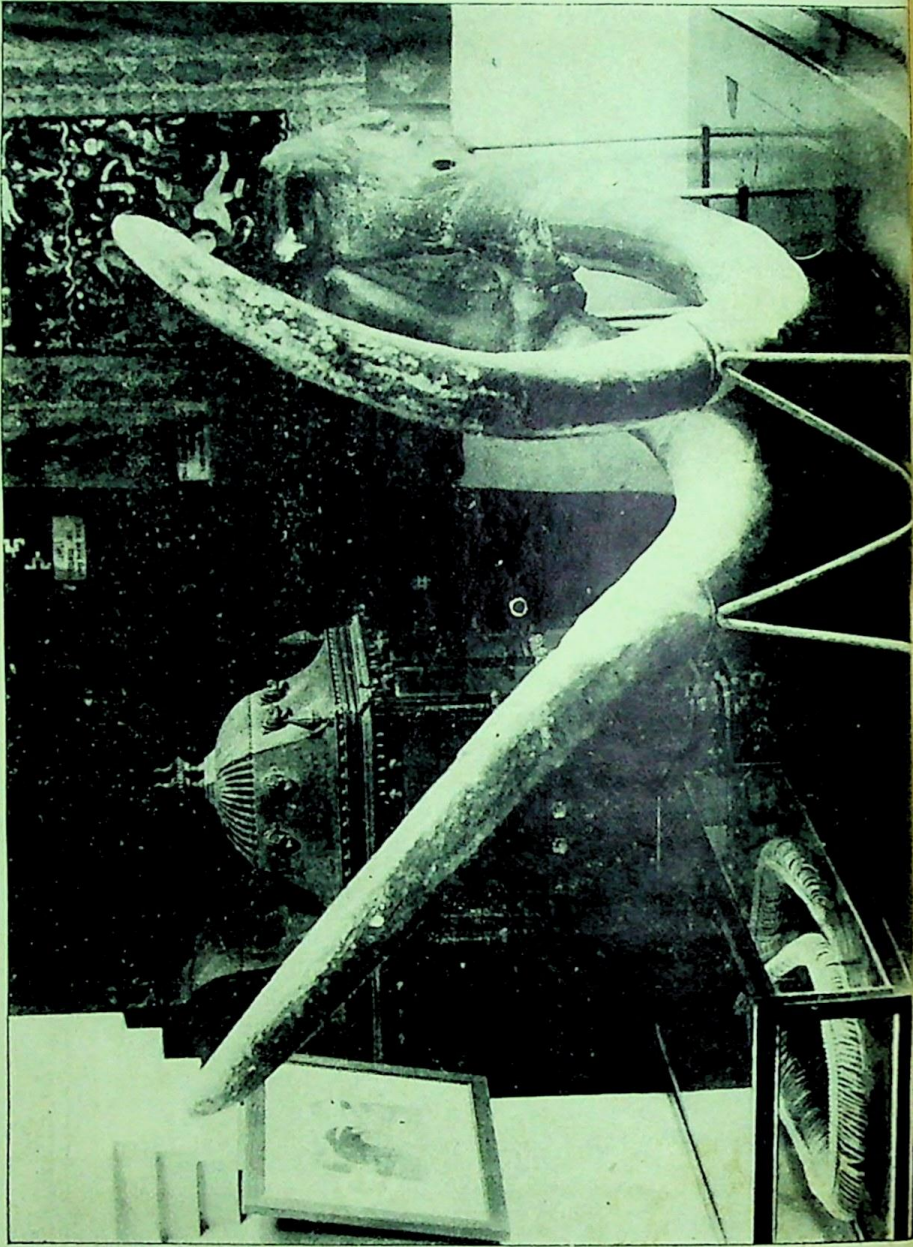
ELEPHAS GANESA (*CAST FOSSIL*)
Miocene Tertiary Sewalik Hills India.

हाथी

प्राचीन हाथी के दांत की लंबाई १४ फीट २ इन्च

इन के मैथुन से जो मैथुनी सृष्टि के शरीर बने, वह टकसाल के असली के सिक्के थे । इस के पीछे जितने भी मैथुनी सृष्टि की संतान कभी यह आदि अमैथुनि सृष्टि के शरीररूपी साचों (प्रवर्तक शरीरों) से कभी बढ़िया नहीं हो सकती । पूरा यत्न करें तो उन के समान भी हो सकती है । आदि अमैथुनि सृष्टि वालों को हम सचमुच

कुदरत के बच्चे

या ईश्वरीय संतान कह सकते हैं । तबेले के घोड़े से जंगल के घोड़े अच्छे, शुद्ध, पुष्ट, और उत्तम होते हैं । जंगल के घोड़ों से वह कुदरती घोड़े सर्वोत्तम थे जो आदि सृष्टि में बिना अपने मांबाप के मैथुन से पैदा हुए । जो गुण, जो फेशन (आकार) घोड़ों के शरीर रूपी सिक्के में भरने मनजूर थे उन को पूरा करने के लिये

घोड़ों के प्रवर्तक शरीर (सांचे)

पूर्ण बनाने की आवश्यकता थी । इस काम को एक मात्र पूर्ण परमेश्वर ही कर सकता था और उस ने ही किया । आदि प्रवर्तक शरीरों से निकले हुए घोड़ों के पिछले वंशों में चाहे कोई कितना Variation (विलक्षण गुण) लाने का यत्न करे पर सर्वगुण संपन्न होने पर कभी कोई घोड़ा आदि अमैथुनि सृष्टि के घोड़े से बढ़कर हो सकता है ? नहीं नहीं, कभी नहीं । अश्व, अरबी, वेलर (वलवर) और सब उपजातियों के घोड़े मिलकर जिस उत्तम तथा पुष्ट संतान को पैदा करेंगे वह संतान यदि

उन्नति की सीमा

पर पहुंचे, तो इस का अर्थ यह होगा कि वह

ELEPHAS GANESA (*CAST FOSSIL*)
Miocene Tertiary Sewalik Hills India.

हाथी
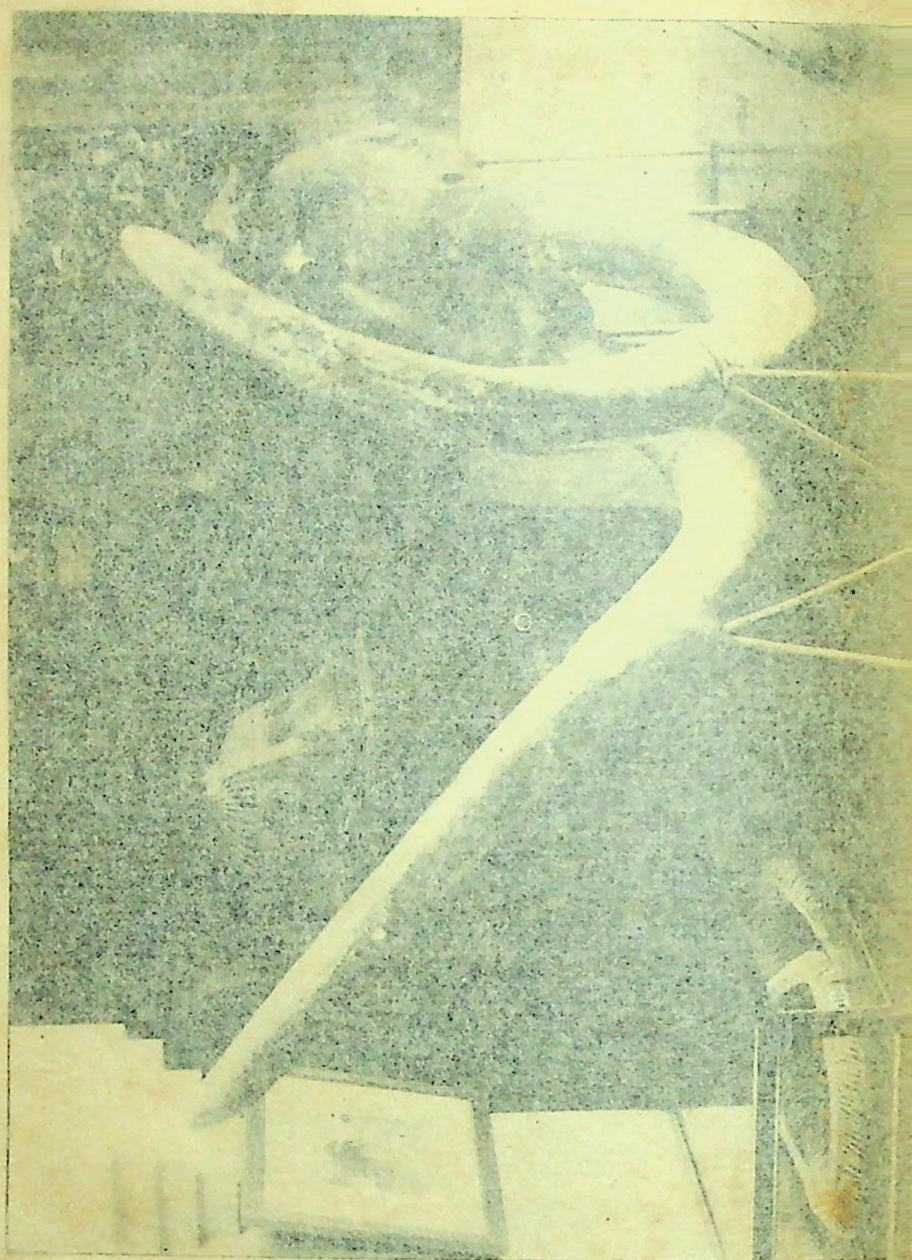
प्राचीन हाथी के दांत की लंबाई १४ फीट ३ इन्च

इन के मैथुन से जो मैथुनी सृष्टि के शरीर बने, वह टकसाल के पहिले सिक्के थे। इस के पीछे जितने भी मैथुनी सृष्टि की संतान चली यह आदि अमैथुनि सृष्टि के शरीररूपी साचों (प्रवर्तक शरीरों) से कभी बढ़िया नहीं हो सकती। पूरा यत्न करें तो उन के समान ही हो सकती है। आदि अमैथुनि सृष्टि वालों को हम सचमुच

कुदरत के बच्चे

वा ईश्वरीय संतान कह सकते हैं। तबेले के घोड़े से जंगल के घोड़े अच्छे, शुद्ध, पुष्ट, और उत्तम होते हैं। जंगल के घोड़ों से वह **कुदरती घोड़े** सर्वोत्तम थे जो आदि सृष्टि में विना अपने मांबाप के मैथुन से पैदा हुए। जो गुण, जो फेशन (आकार) घोड़ों के शरीर रूपी सिक्के में भरने मनजूर थे उन को पूरा करने के लिये

घोड़ों के प्रवर्तक शरीर (सांचे)

पूर्ण बनाने की आवश्यकता थी। इस काम को एक मात्र पूर्ण परमेश्वर ही कर सकता था और उस ने ही किया। आदि प्रवर्तक शरीरों से निकले हुए घोड़ों के पिछले वंशों में चाहे कोई कितना Variation (विलक्षण गुण) लाने का यत्न करे पर सर्वगुण संपन्न होने पर कभी कोई घोड़ा आदि अमैथुनि सृष्टि के घोड़े से बढ़कर हो सकता है ? नहीं नहीं, कभी नहीं। अश्व, अरबी, वेलर (वलवर) और सब उपजातियों के घोड़े मिलकर जिस उत्तम तथा पुष्ट संतान को पैदा करेंगे वह संतान यदि

उन्नति की सीमा

पर पहुंचे, तो इस का अर्थ यह होगा कि वह

जाति प्रवर्तक

अथवा साचें रूप घोड़ों से आगे जा ही नहीं सकती। आदि अमैथुनि सृष्टि के नाना प्राणियों के शरीर, इस दृष्टि से प्रत्येक जाति के शरीरों की

उन्नति सीमा

कहे जा सकते हैं। Water finds its level अर्थात् जल अपनी नियत सीमा तक ही चढ़ता है। उस से आगे चढ़ने का सामर्थ्य जल में नहीं। पदार्थ विज्ञान के इस दृष्टान्त के अनुसार हम कह सकते हैं कि मानवोन्नति अपनी नियत सीमा तक ही पहुंच सकती है और उस से आगे नहीं। आदि अमैथुनि सृष्टि के जो मनुष्य जिस दशा में थे, जिन साधनों से वह युक्त थे, उन के जीवन का जो परम उद्देश्य था, वही सब साधन, वही दशा और उसी उद्देश्य की सीमा तक

मैथुनी सृष्टि के मनुष्य

पहुंच सकते हैं उस से अधिक कोई

सीमा हो ही नहीं सकती।

सूक्ष्म विचार से हम कह सकते कि Variation प्रयत्न द्वारा विचित्र गुणों का धारण करना वास्तव में उन्नति के आदि आदर्श पर पहुंचना है।

इतिहास अपनी घटनाएं दोहराया करते हैं। यदि भास्कराचार्य्य, भारत में ज्योतिषी हो गया है तो न्यूटन इंगलेंड में। कालि-

दास यदि नामी कवि एक देश में पहिले हुआ तो दूसरे देश में दूसरा नामी कवि शेक्सपीअर पीछे हुआ । जो लोग कर्म के सिद्धान्त को नहीं मानते, केवल ईश्वर के एक दया गुण को उस के न्याय गुण से पृथक् कर, विश्व में ससीम शक्तियों और ससीम साधनों वाले जीव के लिये अनन्त उन्नति की कल्पना इसी जन्म तथा इसी भूगोल पर करते हैं, वह कभी इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते, कि क्यों, इस समय तक दूसरा शेक्सपीअर वा न्यूटन इंगलेंड में नहीं जन्मा ? क्यों अफरीका में इस समय ऐसे क्रूर (Savage) मनुष्य मिलते हैं जो मनुष्य काही मांस खा जाते हैं ? क्या विकासवादियों की मानी हुई "अनन्त और सर्व देशीय उन्नति" का नियम सर्वत्र काम नहीं कर रहा ? जो कर रहा होता तो सब भूगोल के मनुष्यों की उन्नति इंगलेंड वा अमेरिका समान क्यों नहीं देखने में आती ? और एकही इंगलेंड के अन्दर क्यों नित्य शेक्सपीअर से बढ़ कर योग्य कवि पैदा नहीं होते ? क्यों इस शताब्दी में अमेरिका, एक ही विद्युत विद्या के पण्डित एडिसन को जन्म दे कर संतोष कर बैठा ? क्यों नहीं उस देश में वा सर्व देशों में एडिसन से भी बढ़ कर योग्यता के विद्वान् इन दिनों पैदा होते ? क्यों भारतवर्ष, ईरान, चीन, मिश्रदेश जो प्राचीन समय में उन्नति के शिखरपर थे आज अधोगति भोग रहे हैं ? जिस समय सूर्य्य चढ़ा हो उस समय कहीं भी अन्धकार दृष्टि नहीं पड़ता, यदि सूर्य्य के होने पर कोई माने कि अन्धकार भी रहता है तो उस की बात कोई नहीं मानेगा । उत्क्रान्ति वा असीम उन्नति को हम दृष्टान्त से सूर्य्य कह सकते हैं । इस सूर्य्य की विद्यमानता में केवल युरुप, अमेरीका और जापान ही उन्नत अवस्था वा प्रकाश की दशा में क्यों हैं ? शेष सब देशों में क्या उन्नति का नियम काम

नहीं कर सकता ? यदि कर सकता था तो उसने काम अब तक क्यों नहीं किया ? और सदैव सब देशों के मनुष्य समान उन्नति की दशा में रहने चाहियें ? वह कौनसी बात है जो एक उन्नत इंगलेंड में भी इस नियम का सब पर बराबर प्रभाव नहीं होने देती ? क्या इंगलेंड में सब ही बी. ए. हैं अथवा सब ही किसी अन्य समान योग्यता के ? इतिहास दर्शा रहा है कि श्री रामचन्द्रजी के समय विमानों में लोग उड़ा करते थे। आज युरुप में लोग विमानों पर उड़ने लगे है। यह ऐतिहासिक घटना दो बातें निश्चित रूप से सिद्ध कर रही है [प्रथम] यह कि जो उन्नति श्री रामचन्द्रजी के समय में विमान संबंधी मनुष्यने की थी, उसी उन्नति की सीमा पर इस समय **फिर** मनुष्य पहुंच गये । जिस का सार यह है कि ऐतिहासिक घटनाएं जो कि वास्तव में मनुष्य के कर्मों की घटनाएं होती हैं वह बार बार हुआ करती हैं । यदि कभी युरुपवाले प्राप्त की हुई विमान विद्या आलस्य के कारण भुला दें तो फिर चाहे लाखों वर्ष गुजर जावें इसी विद्या को भूगोल के किसी भाग पर कोई देश वासी जिन में उस के समझने की शक्ति होगी पुनः प्राप्त करेंगे, और सदैव उन्नति चक्र चलता रहेगा । पर श्री रामचंद्रजी के समय से लेकर लगातार सीधा उन्नतिका मार्ग इसलिये नहीं जारी रहा कि मानव उन्नतिका आधार

मानवी कर्म

हैं । युरुपने क्यों एकही शेक्सपीअर गत ३०० वर्ष में पैदा किया, क्यों गत ३०० वर्ष के अन्दर दूसरा न्यूटन नहीं जन्मा ? इसका उत्तर विकासवादी नहीं दे सकते ! उत्क्रान्ति ही एक मात्र नियम

है ऐसा मत रखनेवाले कभी नहीं दे सकते। करोज़ियर समान आस्तिक वा प्रत्येक भद्र क्रिश्चियन लोग जो केवल ईश्वर के दया गुण के उपासक हैं वह भी नहीं दे सकते, यदि कोई दे सकता है, तो वह **कर्म का सिद्धान्त** ही है। जिस के अनुसार हम कह सकते हैं कि ईश्वर की दया और न्याय पृथक् पृथक् काम नहीं करते और ईश्वर के प्रत्येक कार्य्य में उस की दया और न्याय गुण अविरोधी होकर सदैव काम कर रहे हैं। मानो दया साध्यगुण है तो न्याय साधन। दया उन्नति का विशाल क्षेत्र रख देती है, तो न्याय उस की सीमा करता है। दया और न्याय सदैव मिलकर काम करते हैं। एक दाना गेहुंका मनुष्य बोता है, तो उस एक दाने के पल्टे में तीस दाने उगते हैं यह ईश्वर की दया है, पर गेहुं बोकर हम कभी चना नहीं काट सकते यह उस का न्याय है। थोड़ासा शुभ पुरुषार्थ करनेपर ईश्वर हम को बहुत सुख देते हैं, यह उनकी दया है पर यह कभी नहीं होगा कि पुरुषार्थ कुछभी न करें और फिर फल पावें।

इस लिये जिस जीवने कवि बनने का पुरुषार्थ किया था उस जीव को आज से ३०० वर्ष पूर्व इंगलैंड में कवि का जन्म मिला। जिस जीवने विद्युत्विद्या का अभ्यास किया और पूर्व जन्म के संस्कार वा रुचि जिस की इस तरफ विशेष थी वही जीव एडिसन नाम से अमेरीका में जन्म लेकर महान् पण्डित बना है।

दिन का समय नियत है, रात का भी समय नियत है। मास और वर्ष का समय नियत है। सब प्राणी अमुक समय तक जी कर फिर मरजाते हैं। गर्भ में मनुष्य का बच्चा सौर्य्य नव मास ही वास करता है। प्रत्येक पशु के गर्भ निवास का

समय नियत है। मनुष्य की लंबाई नियत है। मनुष्य का शिर और शरीर के सर्व अंग नियत आकार के होते हैं। ऋतुएं नियत हैं। इसी प्रकार मनुष्य की उन्नति भी नियत ही होनी चाहिये और है। इस नियत उन्नति के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार भाग हैं।

आदि अमैथुनि सृष्टि के मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यही चार मानवीजीवन उद्देश्य लेकर जन्मे थे और यही आज हमारे जीवन उद्देश्य हैं।

किसी वस्तु का नियत होना उसका सीमा बद्ध होना है। जब हम कहते हैं कि दिन का समय नियत है, तो इस का भाव यही होगा, कि दिन की सीमा है। जिस सीमा पर जाने के लिये दयालु, न्यायकारी तथा पूर्ण परमेश्वरने जीवों को उन के कर्मानुसार मनुष्य योनि दी, उसी ने इस योनि की परम सीमा मोक्ष रखदी और इस सीमा के तीन साधन, धर्म, अर्थ, और काम बनाए।

आस्तिक नास्तिक सबको आदि सृष्टि अमैथुनि ही माननी पड़ती है। जो नास्तिक एक जलचर से सृष्टिक्रम की कल्पना करते हैं उन को भी तो यह जलचर अमैथुन द्वारा ही उत्पन्न हुआ मानना पड़ता है।

पहिले ईसाई लोग ऐसा मानते थे कि आदि सृष्टि में आदिम और हव्वा का एक जोड़ा ही अमैथुन द्वारा हुआ। प्रोफेसर मेक्स-मूलर महोदय का मत है कि एक जोड़े से भाव थोड़े से मनुष्यों का समझना चाहिये, केवल एक ही जोड़े का नहीं।

आजकल युरुप के सब ही डाक्टरों ने सर्व सम्मतिसे सिद्ध कर दिया है कि सगे और निकटवर्त्ती संबंधियों के बालकों के यदि विवाह किये

जावें, तो संतान अधम होती है। वह Variation (विलक्षण गुण) वा उत्तमता जिस पर डारविन महोदय का ज़ोर है वह निकट वर्त्ती संबंधियों के बालकों के विवाह से कभी नहीं आ सकती। आर्य्य-शास्त्र सब ही एक स्वर से यही गा रहे हैं कि

सगोत्र विवाह वर्जित

है। ऐसी दशा में आदि सृष्टि में अवश्य इतने नरनारी हुए होंगे जिन की संतान के परस्पर विवाह होने से उक्त दोष न आ सके। वेदों में जहां आदि सृष्टि के मनुष्यों को उत्तम कक्षा का बतलाया है, वहां उन के लिये बहुवचन का प्रयोग किया है जिस से हम कह सकते हैं कि आदि अमैथुनि सृष्टि में अनेक पुरुष तथा स्त्रियां उत्पन्न हुईं।

इस उचित संख्या में होने के दो कारण हैं। एक तो यह कि इन आदि मनुष्यों के प्रवर्तक सांचे रूपी शरीर

आदर्श

कोटि के होते हैं, और जिन पवित्र तपस्वी जीवों के ऐसे शुभ कर्म विश्व में हों वही इन आदर्श शरीरों के पात्र होते हैं। दूसरे हम देखते हैं कि एक नये गाम में ४ युवा पुरुष और ४ युवा स्त्रिएं बसा दें तो २५ वर्ष के अन्दर अर्थात् इन के वृद्ध होने से पूर्व यदि प्रत्येक जोड़े की सेरेरास संतान ५ हो तो २० जन और हो जाएंगे और ८+२०=२८ संख्या हो जावेगी और फिर ५० वर्ष के अन्दर यह संख्या अवश्य दुगनी हो जावेगी और इसी प्रकार बढ़ती जाएगी। इसी प्रकार आदि अमैथुनि सृष्टि के उचित संख्या वाले मनुष्य धीरे धीरे पृथिवी को अपनी सन्तान से बसाने के लिये काफी हो सकते हैं।

आदि मैथुनी सृष्टि के मनुष्य भी प्रायः बहुत अच्छे होने चाहियें ठीक जिस प्रकार कि सांचों से निकले हुए पहिले सिक्के होते हैं। इसी लिये महाभारत में हम पढ़ते हैं कि आदि मैथुनी सृष्टि के मनुष्य बहुत उच्च कोटि के थे। आदि पर्व में लिखा है कि "सब ही ब्राह्मण वर्ण के थे और सब ही धर्मपालनद्वारा परस्पर एक दूसरे की रक्षा करते थे, दंड देने वाला दंड लेने वाला कोई न था।"

कोई कह सकता है कि इस से तो आदि अमैथुनि सृष्टि के मनुष्य ही आदर्श ठैरते हैं और उन के निकटवर्त्ती भी उत्तम कोटि के। हम कहें गे कि निःसंदेह ऐसा ही है, कारण कि किसी नदी का पानी जब श्रौत से निकलता है तो अधिक पवित्र होता है और ज्यूं ज्यूं आगे बढ़ता जाता है त्यूं त्यूं यदि पूरी संभाल न की जावे तो अपवित्र होने की संभावना रहती है। टी. एल. स्ट्रेंज महोदय भी इसी बात को स्वीकार करते हैं कि आदि अमैथुनि सृष्टि के प्राणी सब से बढ़िया शरीरों के होते हैं। ईश्वर को पूर्ण मानने वाले सब ही आस्तिक इसी मत को मानते हैं और युक्ति से भी यही बात सिद्ध हो रही है कि सांचा सदैव उत्तम और बढ़िया ही होना चाहिये।

जीवन उद्देश्य आदि अमैथुनि सृष्टि के मनुष्य का भी वही होता है जो पीछे के होने वाले मनुष्य मात्र का है अर्थात्

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।

सत्य कर्त्तव्यका दूसर नाम धर्म है, भोजन और उस की सामग्री तथा उस के साधन धनादि का अर्थ है। संतान उत्पत्ति आदि कामनाओं की तृप्ति को "काम" कहते हैं। आत्मा की उन्नत इच्छाओं को जो ब्रह्म ज्ञान द्वारा ही पूर्ण हो सकती हैं तथा दुःखों से छूटने का नाम मोक्ष है। उत्क्रान्ति की परम सीमा ही मोक्ष है।

कोई पुरुष कह सकता है कि मानवी अमैथुनि सृष्टि अब क्यों नहीं होती ? इसका उत्तर यह है कि सांचा (प्रवर्तक शरीर) आदि में बनाया जाता है, बार बार नहीं। जब प्रलय के पीछे फिर सृष्टि होगी तब फिर आदि मानवी सृष्टि अमैथुनि ही होगी और इसी प्रकार जब जब कल्प के पीछे सृष्टि होगी तब तब यही बात पुनः पुनः होगी। इसी पुनरावर्तन को पूर्ण नियम का नाम दे सकते हैं। जिस प्रकार प्रातःकालका समय सूर्य्य चढ़ने पर ही हुआ करता है और सदैव बार बार हुआ करेगा, इसी प्रकार यह है। हम अभी दर्शा चुके हैं कि उचित परिमित संख्या एक नगर को बसाने के लिये काफी होती है। २०० मनुष्यों के परिवारोंसे बंबई जितना नगर समय पर जाकर बस सकता है। आदि सृष्टि के समय ऐसी उचित संख्या नर नारियों की हुई होगी, जो एक ग्राम वा नगर के अन्दर शायद आजकल आसके। इस कथन से यह बात भी निकलती है कि आदि अमैथुनि सृष्टि मनुष्यों की

सर्वत्र भूगोल भर में नहीं होनी चाहिये।

यह उचित संख्या परिमित स्थल पर ही हुई और इस की संतान ने ही भूगोल को बसाया, ठीक जैसा कि एक मुट्ठी भर बीज से एक खेत बो सकते हैं। वह आदि स्थल भूगोल पर कौनसा होगा इस पर विचार शील विचार करते ही रहते हैं। जर्मनी के प्रोफेसर ओकन का दृढ़ कथन है कि हिमालय सब से ऊंचा पहाड़ है इस लिये हिमालय की चोटी ही पहिले समुद्र से निकली होगी और इस का निकट स्थल आदि मनुष्यों का जन्म स्थल हो सकता है। अमेरीका के योगी तथा डाक्टर एन्ड्रो जैक्सन डेविस भी इसी कथन को पुष्ट करते हैं। युक्ति भी यही मार्ग दर्शाती है, कि जहां सब से ऊंचा पहाड़ है वही आदि स्थल होना चाहिये।

त्रिविष्टप, कैलास* आदि स्थलों को संस्कृत ग्रन्थों में देव भूमि वा स्वर्ग लोक लिखा जाता है× । इस लिये हिमालय तथा उस का निकट वर्ती प्रदेश जिस में तिब्बत्त, शिवालक,§ कैलास और गौरीशंकर (मौंट एवरस्ट) हैं यह आदि स्थल हो सकते हैं। सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुत पण्डित बाल गंगाधर तिलक महोदय ने Arctic Home In The Vedas (वेदों में ध्रुवीय गृह) पुस्तक लिख कर यह मत दर्शाया है कि आदिम आर्य्य, उत्तरीय ध्रुव के वासीथे। उस का प्रबल हेतु वह यह देते हैं कि ऋग्वेद में उस चिरस्थायी उषा का वर्णन है जो कि उत्तरीय ध्रुव पर ही होती है । हम इन से सहमत नहीं हैं । कारण यह कि यजुर्वेद में तो

" समुद्रं आगच्छ "

भी लिखा है, तो क्या फिर यह मानना पड़े गा कि आदिम आर्य्य लंका के वासी थे वा समुद्र के किसी अन्य तट के ।

भूगोल की पुस्तक में भूगोल के सर्व स्थलों का वर्णन होता है, पर भूगोल का लेखक सब स्थलों का ही रहने वाला हो यह आवश्यक नहीं । वैदिक आर्य्य मानते हैं कि वेद विद्या ग्रन्थ हैं, कारण कि वेद के अर्थ ज्ञान के हैं । सब ही संस्कृत कोश इस बात को स्वीकार करते हैं । मैक्समूलर पण्डित भी यह बात कि वेद के अर्थ ज्ञान के हैं मुक्त कंठ से स्वीकार करता है । सब ही आर्ष

---

* गुजरात तथा दक्षिण देश में जब कोई मर जाता है तो उस को **कैलासवासी** लिखते हैं ।

× त्रिविष्टप, इस के अर्थ शब्द चिन्तामणि संस्कृत गुजराती कोश में **स्वर्गलोक** के दिये हुए हैं ।

§ **शिवालक के अर्थ कल्याण सूचक** हैं ।

ग्रन्थ वेद को ज्ञानवाचक लिखते हैं। इतने प्रबल प्रमाणों के होने पर हम कभी वेद को ज्ञान के सिवाय किसी और अर्थ में नहीं ले सकते। श्रीयुत तिलक महोदय के लेखानुसार वेद एक इतिहास ग्रन्थ सिद्ध हो रहे हैं जो कि कभी भी कोई पण्डित नहीं मानेगा। ईश्वर ने जिस प्रकार समाधिस्थ ऋषियों को अन्य विषयों का ज्ञान दिया उसी प्रकार उत्तरीय ध्रुव का भी। और पीछे ज्योतिषी लोग उत्तरीय ध्रुव की यात्रा को जाने लगे।

ईश्वर ने आदि सृष्टि में मनुष्य अल्प संख्या वा उचित संख्या में पैदा किये थे इस लिये कि अल्प संख्या के मनुष्य सर्व भूगोल को बसा सकते हैं। आज कल भी नये गाम और द्वीप बसाने के लिये थोड़े परिवार ही काफी होते हैं। इसी अल्पसंख्या का होना एक परिमित देश का भी बोधन करा रहा है, और वह आदि स्थल सब से ऊंचे पहाड़ के निकट त्रिविष्टप देश ही होना चाहिये। उत्तरीय ध्रुव वा समुद्र तट, आदिम मनुष्यों का गृह नहीं हो सकता।

तिलक महोदय की उक्त पुस्तक से यह बड़ा भारी लाभ हुआ कि ऋग्वेद के एक मंत्र की जो उत्तरीय ध्रुव की उषा का वर्णन करनेवाला है उत्तम व्याख्या हम को प्राप्त हुई, जिस के लिये वह भारी धन्शवाद के पात्र हैं। Science of Language (भाषा शास्त्र) की दृष्टि से भी यही बात पुष्ट होती है, कि आदिम मनुष्य एक स्थल पर रहते होंगें कारण कि भूगोल की मुख्य भाषाओं में "मां, बाप" के लिये जो जो शब्द मिलते हैं वह एक दूसरे के सदृश, एक दूसरे का विकार और एक दूसरे का परिवर्तन ही हैं। यथा

संस्कृत	फारसी	यूनानी (Greek)	लैटिन (Latin)	अंग्रेजी (English)	हिंदुस्तानी
पितृ	पिदर	पेटर (pater)	पेटर (pater)	फादर (Father)	बा, बाप
मातृ	मादर	मीटर (meter)	मेटर (mater)	मदर (mother)	मा
भ्रातृ	ब्रादर	फ्रेट्रिया (phratria)	फ्रेटर (frater)	ब्रदर (Brother)	भाई
नामन्	नामा	ओनामा (onama)	नोमन(nomen)	नेम (name)	नाम
द्वि	दो	दुओ (duo)	दुओ (duo)	टू (two)	दो
सप्तम्	हप्त	हेप्टा (hepta)	सेप्टम (septum)	सैवन (seven)	सात
उपरि	बर	हुपर (huper)	सुपर (super)	अबव (above)	ऊपर

इस कोष्टक (table) के अवलोकन से प्रतीत होता है कि वैदिक संस्कृत ही आदि भाषा है जिस को कभी मनुष्य के आदि पितृ त्रिविष्टप देश में बोलते थे ।

जो लोग कहते हैं कि सैमिटिक भाषाएं, हीब्रु तथा अरबी आदि, आर्य भाषाओंसे स्वतंत्र हैं वह गलतीपर हैं, कारण कि मनुष्य किसी नवीन भाषाको तो कभी बना सकता ही नहीं ? मैथुनी सृष्टि के लोगोंकी भाषा सदैव उनके मातपिता तथा गुरु की भाषा होती है। और आदि मनुष्यों की भाषा पूर्ण (संस्कृत) भाषा ही थी। यदि हीब्रु अरबी के शब्द, संस्कृत वा अन्य आर्यभाषाओं से प्रायः नहीं मिलते तो अरबी आदि Code Language क्षत्रिय अथवा वैश्यादि की संकेतिक भाषा की न्याईं मूलभाषा के नाना वर्णों वा शब्दों का विचित्र मेल तथा परिवर्तन करने से बनाई गई है, कारण कि उसके धातु जो अन्य भाषाओं के धातुओं से मिलते ही हैं ऐसा दृढ़मत प्रो० मैक्समूलर तक का है।

माता शब्द हिन्दोस्तानी में मा बोला जाता है। इस मा को Code word (संकेतिकभाषा) के रूप में उल्टाकर "अम" बना सकते हैं जो अरबी में मा के लिये प्रयुक्त होता है। शब्द बाप का प गिराकर और बा को उल्टाने से चतुर पुरुष ने "अब" संकेत बना लिया और अरबी में अब पिता वाचक है। अरबी का अल्ला शब्द संस्कृत धातुजन्य है ही, अरबी का रब शब्द रवि से बना है। नमाज़ नमस से बना है। कुरान शरीफ में जो अलम ईश्वर-वाचक है वह निःसंदेह ओ३म् का विकार है यह दृढ़मत अरबी के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुत मुन्शी इन्द्रमणि मुरादाबादी का है

भूगोल के वह सब देश जिन में मानवजाति की उपजातियां रहती हैं उन के नाम भी आदि भाषा (संस्कृत) के शब्दों से ही बने हैं, जो इस की पुष्टि में प्रमाण है कि आदि मनुष्य, एक स्थल पर

से एक ही आदि भाषा बोलते हुए भूगोल के नाना देशों को बसाने के लिये गये। यथाः—

काशपस्थान	कैसपियन
तर्कस्थान	तुर्कस्थान
मुद्गल	मुग़ल
चीन	चीन
गिरीश	ग्रीस
पालीस्थान	पेलिसटाइन
अश्वस्थान	अस्पहान
आर्य्यस्थान	ईरान
अर्वस्थान*	अरबस्तान
उद्यान	अदन Aden
यवन	युनान
मिश्रदेश	मिसरदेश
नीलनदी	नाईलनदी
जातखंड	जटलैंड
अवगहनस्थान	अफ़गानिस्तान
पुष्टान	पठान
गंदहार	कंदहार
बलउच्चस्थान	बिलोचिस्तान
ब्रह्मदेश	ब्रह्मा
त्रिविष्टप	तिब्बत्त
पवित्रखंड	स्विट्ज़रलैंड Switzerland

* अर्व, एक जाति के घोड़े का नाम है, देखो संस्कृत कोष ।

आर्य्यखंड	आयर्लैंड* Ireland
द्विदी	Druid+(द्रुइद)
सुयोद्धन	स्वीडन Sweden
नारावज	नारवे Norway
धेनुमार्ग	डेनमार्क
बल्टिक	बाल्टक
मध्यधारा	मेडेट्रेनियन Mediterranean
शर्मनदेश	जरमनदेश
राष्ट्रः	आस्ट्रिया
हूनगृह	हंगरी
तर्कदेश	टरकी
कर्कस्याशिष्य	कोकेशस Caucasus
बलिजनम	बेलजियम
अन्तवर्ग	एंटवर्प
मक्षिगृह	मेक्सीको
मेरुगृह	अमेरिका
अवरगृह	अफरीका
राष्ट्रालय	आस्ट्रेलिया
यव (द्वीप)	जावा
मध्यसागर	मेडागासकर
बाहिलका	बलख
पलव	पहेलवदेश (ईरान)
शक	सीथिया

* देखो--मैक्समूलर कृत " सायंस आफ लेंगवेज "

+ देखो--एशियाटिक रीसरचिस ॥

सुमात्रा	समाटरा
नवजीवखंड	न्यूज़ीलैंड
महामत	महमद
ऋषि	ऋषूल
आदिम	आदम
रवि	रब
ओ३म्	अलम (कुरान शरीफमें) IAM (बाईबलमें)
स्वदा	खुदा
अन्तकाल	इन्तकाल
ऋषयः देश	रशया, रूस
आर्षेय देश	Asia एशिया
खशः	Cossack कज़ाक

हमने जो कुछ दर्शाया उस का भाव यह है कि आदि अमैथुनिसृष्टि के मनुष्यों के शरीर तथा शरीर के सब अङ्ग दिमागादि आदर्श रूपी थे, अब हमें यह वर्णन करना है, कि उन आदि अमैथुनि सृष्टि के मनुष्य समाज की आदि भाषा भी सब भाषाओं की कारण, प्रवर्त्तक अथवा सांचा रूपी होनी चाहिए और थी । इसी लिए उस आदि भाषा का नाम संस्कृत है । संस्कृत के अर्थ जो पूर्ण की गई अथवा दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि पूर्ण भाषा का दूसरा नाम संस्कृत भाषा है । इस के दो भाग हैं एक वैदिक दूसरी लौकिक । अष्टाध्यायी जो प्राचीन समय का व्याकरण पुस्तक है, इसका महत्व यह है कि यह वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के संस्कृत शब्दों संबंधी नियम दर्शाता है । जो अंगरेज़ विद्वान् संस्कृत को अन्य मानवी भाषाओं की भगिनी कहते हैं, उससे उन का भाव लौकिक संस्कृत से हमें लेना चाहिए । वैदिक संस्कृत लौकिक संस्कृत की जन्मदातृ है ।

जिस जगदीश्वर ने आदि अमैथुनिसृष्टि के समय प्रत्येक प्राणी की, भिन्न भिन्न जातियों को, अपनी अपार कृपा से स्वतंत्र वाणी दी, जिस के द्वारा वह अपने अपने व्यवहार सिद्ध कर सकें, उसी जगदीश्वर ने आदि अमैथुनिसृष्टि के समय मनुष्य को भी स्वतंत्र वाणी दी। उसी वाणी का नाम देव वाणी वा वेद वाणी अथवा वैदिक संस्कृत है। मानव धर्म शास्त्र के प्रथम अध्याय में कहा गया है कि "वाचं" अर्थात् वाणी आदि सृष्टि में ईश्वर ने दी, वह बहुत ही भाव पूर्ण तथा सत्य है।

जिन्होंने बरसों कुत्ते पाले हैं वह अनुभव द्वारा कहते हैं कि कुत्तों की वाणी भिन्न भिन्न भावों को प्रगट करने के लिए है। एक मादा को जब कुत्ते से मिलकर बच्चा पैदा करना होता है तो वह एक भिन्न प्रकार की ध्वनि करती है, जिस को दूसरा कुत्ता तो निःसन्देह समझता ही है किन्तु कुत्तों के रखने वाले भी समझ जाते हैं कि यह स्वयंवर का निमंत्रण है। हर्ष, प्यार, कृतज्ञता, भय लज्जा आदि भावों तथा अनेक क्रियाओं के प्रगट करने के लिए कुत्ते निःसन्देह भिन्न भिन्न प्रकार की ध्वनि करते हैं। इस से प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध होता है कि कुत्तों की वाणी है। इसी प्रकार गाय बकरी बिल्ली आदि के पालने वाले कहते हैं और प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध होता है कि पशु आदि भिन्न भिन्न प्रकार की चेष्टा तथा वाणी रखते हैं बन्दर की वाणी संबन्धी, अफरीका में जाकर अनेक विद्वानों ने प्रयोग किए हैं और उन की दृढ़ सम्मति है कि गोरीला आदि सब प्रकार के बन्दर अपने व्यवहार उपयोगी वाणी रखते हैं।

जो लोग कहा करते हैं कि मनुष्य ने पशुओं तथा पक्षिओं

की वाणी के अनुकरण से अपनी वाणी बनाई होगी उनका कथन ठीक नहीं हो सकता। कारण कि हम देखते हैं, कोई भी पशु किसी दूसरे पशु की वाणी का अनुकरण करके अपनी भाषा अथवा वाणी नहीं बनाता। प्रत्येक जाति के पशु पक्षी को उसके निर्वाहार्थ स्वतंत्र वाणी Nature अथवा जगदीश्वरने प्रदान कर रखी है। क्या वह Nature अथवा जगदीश्वर मनुष्य जाति को ऐसा बेबस छोड़ सकता है कि वह पशु पक्षियों की वाणी के अनुकरण से अपनी वाणी बनाने की चिन्ता में ही रहे? जब एक गधा अथवा कुत्ता स्वतंत्र वाणी रखता है तो यह कहना कि मनुष्य को स्वतंत्र वाणी Nature वा जगदीश्वर ने नहीं दी, मानो Nature अथवा जगदीश्वर को कलङ्क लगाना है।

अच्छा कल्पना करो कि एक मनुष्य की रुचि एक पक्षी की आवाज़ नकल करने पर है और दूसरे की दूसरे पक्षी की आवाज़ के लिए, तो ऐसी दशा में एक मानवी भाषा की उत्पत्ति कैसे हो सकेगी? एक मनुष्य एक पशु की आवाज़ नकल करना चाहता है और दूसरा दूसरे पशु की तो बतलाइए क्या कभी यह सम्भव है कि मनुष्य समाज की एक भाषा बन सके? नहीं नहीं कभी नहीं। इसलिए ऐसी निर्मूल कल्पनाओं को, जो कहती हैं कि मनुष्यने पशु वाणी की नकल की होगी, छोड़कर हमें यह बात दृढ़ कर लेनी चाहिए कि जब सब पशु पक्षी अपनी अपनी स्वतंत्र भाषा रखते हैं तो कोई कारण नहीं कि मनुष्य की स्वतंत्र भाषा न हो सके।

अब हमें यह विचार करना है कि मनुष्य की भाषा किस प्रकार बनी? प्रत्येक मैथुनी सृष्टि के मनुष्य की भाषा वही होती

है जो उसके माता पिता की भाषा हो। हज़रत महम्मद साहेब वह भाषा बोलते थे जो उनके माता पिता तथा मित्रगण उनसे बोलते थे। हज़रत ईसा साहब की भाषा वही थी जो उनकी माता आदि की थी। हज़रत ज़रतुस्त साहब की भाषा वही थी जो उनके माता पिता बोलते थे। हज़रतमूसा, श्रीबुद्धदेव, श्रीपारसनाथ, श्रीमहाबीर, श्रीशंकराचार्य, श्रीगुरु नानक, श्रीगुरु कबीर आदि सबही महापुरुषों की भाषा वही थी जो उनके मातापिता और गुरु की थी। अरस्तु (Aristotle) सुकरात (Socrates) अफलातून (Plato) न्यूटन (Newton) शेक्सपिअर (Shakespeare) आदि प्रसिद्ध विद्वानों की भाषा वही थी जो उनके मातापिता वा गुरु की थी। ग्रेमोफोन (शब्दधारकयंत्र) का अविष्कार कर्त्ता एडिसन इस समय भूगोल पर विद्युत् शास्त्र का अद्वितीय पंडित है, पर तिस पर भी उस की क्या मजाल है जो हिन्दी भाषा में विना इस भाषा का शिक्षण लिए एक पुस्तक भी तो लिख सके? जितने ग्रन्थ इस पंडित राज ने रचे उसी भाषा में रचे जिसका शिक्षण इसको उसके माता पिता अथवा आचार्य से मिला।

कोई मेधावी बच्चा मां के पेट से आज तक ऐसा नहीं जन्मा जिसने अपने आप अपने लिए भाषा की रचना की हो। मिश्र (Egypt) के महाराज सामीटीकस ने यह जानने के लिये कि मनुष्य भाषा बना सकता है कि नहीं दो दूध पीने वाले बच्चों को लेकर एक गडरिए को सौंप दिया और कहा कि बकरी के दूध पर पालो और इनके सामने कोई शब्द उच्चारण मतकरो। गडरिए ने ऐसा ही किया। बच्चे जब बड़े हुए तो महाराजा को निश्चय होगया कि वह कोई भाषा नहीं जानते।

स्वाबेन, फ्रेडरिकद्वितीय (Frederick II.) जेम्स चतुर्थ (James IV) और अकबर बादशाह के गुंगमहलों की कथाएं इतिहास में अङ्कित हैं। जिन से यह निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि गुंग महल में पले हुए बच्चे कोई भाषा नहीं सीख सके। बड़ोदा मूक विद्यालय के आचार्य्य श्रीयुत पंडित नन्दुर्बार्कर का कथन है कि जो बच्चे जन्म से बधिर होते हैं वह सदैव गुंगे रहते हैं अर्थात्

जो शब्द सुनेगा नहीं वह बोलेगा भी नहीं

यही बात श्रीयुत विष्णुदत्तजी M. A. ने आर्यसमाज नामी अंग्रेज़ी लघुपुस्तक में लिखी है कि जन्म के बहरे जन्म के गुंगे होते हैं। **प्रोफेसर पौट** Professor Pott का कथन है कि "वाणी के वास्तविक स्वरूप में किसी ने कभी वृद्धि नहीं की, परिवर्तन केवल रूपों में ही होते रहे हैं। किसी भी पिछले मनुष्य के वंश ने **एक धातु** नया नहीं बनाया जैसा कि भौतिक जगत् में किसी ने कोई नया परमाणु नहीं बढ़ाया। हम कह सकते हैं कि मानो हम **उन्हीं शब्दों को बोल रहे हैं** जो कि आदि में मनुष्य के मुख से निकले थे।"

प्रोफेसर मैक्समूलर* का कथन है कि "यह सच हो सकता है कि आर्य भाषाओं के धातुस्वरूप और अर्थों में Semitic सेमेटिक Ural Altic अराल आल्टिक, और ओशिनिआ Oceania की जबानों से मिलते हैं।" उक्त कथन से यह बात निश्चित होती है जैसे कि प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध है कि कभी कोई मनुष्य भाषा बना नहीं सकता।

---

* The Science of Language by F. Maxmuller.

प्रोफेसर मैक्समूलर ने इस बात को मुक्तकंठ से स्वीकार किया है कि

निःसन्देह मनुष्य की पहिले एक भाषा थी ।

यही बात पौट महोदय कह रहे हैं। जो लोग सेमेटिक भाषा को आर्य्य भाषाओं से पृथक् माने हुए हैं वह भ्रममें हैं, कारण कि आर्य भाषाओं के धातु स्वरूप और अर्थों में निःसन्देह सेमेटिक भाषाओं से मिलते हैं। अब रहा यह प्रश्न कि आदि सृष्टि के मनुष्यों की एक भाषा उन को कहां से प्राप्त हुई ? उस का केवल एक ही उत्तर हो सकता है कि उन को ईश्वर की प्रेरणा से मिली, कारण कि उन के मानवी माता पिता तो थे नहीं, इसी लिए उन की भाषा ईश्वर दत्त भाषा होसकती है और उन को भाषा मात्र की प्रेरणा करने वाला ईश्वर ही हो सकता है। इन आदि सृष्टि के मनुष्यों की भाषा निःसन्देह कारण भाषा थी। प्रोफेसर मैक्समूलर और प्रोफेसर पौट यद्यपि इस बात का युरुप के आगे अभिमान कर सकते हैं कि उन्हो नें भूगोल की सर्व भाषाओं के आधार, धातु (Roots) बतलाए हैं पर वास्तव में उन को धातुओं का पूर्ण ज्ञान संस्कृत भाषा के जानने और विशेष कर महाभाष्य नामी ग्रन्थ पढ़ने से ही हुआ है। महाभाष्य के कर्त्ता योगीराज महर्षि पतञ्जलि ने उस वेद मंत्र को उद्धृत् किया है जिस में वाणिशास्त्र का रहस्य भरा पड़ा है।

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्याँ आविवेश ॥

ऋग्वेद मण्डल ४। अ० ५। सू० ५८। मं० ३

नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात यह चार सींगवत् हैं भूत, भविष्यत् वर्तमान यह तीन काल पादवत् हैं ध्वन्यात्मक और स्फोटात्मक यह दो शिरस्थानी हैं सात विभक्तियां हाथ के समान हैं, उर (छाती) कण्ठ और शिर (तालु) इन तीनों से बंधा हुआ है ।

वृषभः वर्षण करने से यथेच्छ फलों का दाता रोरवीति=शब्द करता है, महोदेवः महादेव दिव्य गुण युक्त शब्द ब्रह्म, ने मर्त्यान् मनुष्यों के अन्दर, आविवेश प्रवेश किया ॥

महान् दिव्यगुण वाला (वृषभ वर्षण करने से यथेच्छ फलों को देनेवाला शब्द (ब्रह्म) रूपी बैल, जिस के—नाम, आखात, उपसर्ग, निपात चार सींगो के तुल्य हैं भूत, भविष्वत्, और वर्तमान, यह तीन पैर हैं । उस के स्फोट और ध्वनि रूपी यह शिर हैं । सात विभक्ति रूप हाथ हैं । छाती, कण्ठ, और सिर इन तीन स्थानों पर बंधा हुवा है । ऐसे शब्द ने मनुष्यों के अन्दर प्रवेश किया ।

उक्त मंत्र से सिद्ध होता है कि आदि ऋषियों ने सर्वांगपूर्ण वाणी को वेद के रूप में धारण किया था और आज तक भी जितनी भाषाएं हैं वह आदि वैदिक संस्कृत भाषा की सन्तान रूप हैं। उन में भी मुख्य कर के यही अंग हैं। इस मंत्र से प्रगट होता है कि मानवी भाषा का स्वरूप क्या है । यह मंत्र दर्शा रहा है कि आदि अमैथुनी सृष्टि से लेकर कल्प के अन्त पर्यन्त मनुष्य मात्र जो वाणी प्रयोग करेंगे वह आदर्श अथवा पूर्ण रूप में होने के लिए किन किन अङ्गों से सदैव युक्त रहेगी । कहां यह कल्पना कि मनुष्य

अन्य पशु पक्षियों की वाणी का अनुकरण करने से अपूर्ण भाषा बनाने में सफल हुआ और कहां यह युक्ति सिद्ध परम उच्च सिद्धान्त कि मानवी भाषा के चार मुख्य अङ्ग नाम आख्यात उपसर्ग और निपात हैं ? इस मंत्र ने आदि मानवी एक भाषा अथवा वेदवाणी के सम्पूर्ण अङ्ग किस उत्तमता से दर्शा दिए हैं ? पृथिवी भर की भाषाओं के सम्पूर्ण व्याकरण शास्त्रों का जन्मदाता यही मंत्र है । क्या इस से बढ़कर भाषा के अङ्ग कोई वर्णन कर सकेगा ? नहीं नहीं, कभी नहीं। कोई कह सकता है कि कई भाषाओं में आज कल आठ या नौ भाषा के अङ्ग माने जाते हैं । पर जो अङ्ग यहां पर वर्णन किए हैं उन के अन्दर ही उन का समावेश हो जाता है । इस मंत्र में जहां मानवी भाषा के सम्पूर्ण अङ्ग दर्शा दिए वहां भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न का भी यथार्थ उत्तर दे दिया ।

द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के योग्य सभापति, श्रीमान् पण्डित गोविन्द नारायण मिश्रजीने १९११ ई० में अपने उत्तम भाषण में यह वचन कहे थे, जिन से बुद्धिमान् जान लेंगे कि ग्रेमोफोन के अविष्कार ने पुराने ऋषि सिद्धान्त को, कि शब्द नित्य है, पुष्ट करने का काम दिया है:—

" इस लिये ' सब नाम धातुज हैं ' शाकटायन का यह सिद्धान्त वेद सम्मत, व्याकरणानुसारी, अभ्रान्त, आदरणीय और सर्वथा समीचीन है — — — — — — — — — —

— मीमांसा दर्शन के मत से शब्द राशि का बनाने वाला कोई मनुष्य वा अन्य जीव विशेष नहीं है । यथार्थ में शब्द नित्य है, मनुष्य केवल उन को समय समय पर प्रकाशित कर वर्त्तते भर हैं।

मीमांसा दर्शन में शब्द की नित्यता प्रबल युक्तियों से समर्थित हुई है। जब शब्द का नित्य होना हमारे परम माननीय मीमांसक आर्य्य ऋषियों का सब से प्राचीन और समीचीन सिद्धान्त है, तब भाषान्तर से शब्द ग्रहण की आशंका का तो संभव ही नहीं हो सकता है। विशेष इस समय 'फोनोग्राफ' यंत्र ने शब्द की उस नित्यता को प्रत्यक्ष प्रमाणित कर दिया है।"

जो नित्य शब्द ध्वनि रूपसे और जिसका कार्य्य व्यक्त वाणी है, उसका वर्णन भी इस मंत्र में है। अन्त में उक्त मंत्र दर्शा रहा है कि ऐसे अंगों वाला शब्द मनुष्यों की संपूर्ण कामना सिद्ध करने वाला है, जो उसको वेदरूप से प्राप्त हुआ।

जो लोग कहा करते हैं कि आदि ऋषियों को अपने निर्वाहार्थ बड़ा कष्ट होता होगा, क्यों कि व्यवहारिक शब्द सिखाने वाली उनकी माताएं कहां थीं? उसका उत्तर उक्त मंत्र से मिल सकता है और उसके अनुसार हम कह सकते हैं कि सामान्य व्यवहार सिद्धिके लिये आदि ऋषि जिन वेदद्वारा प्राप्त शब्दों का व्यवहार करते थे, उनको नाम आख्यात आदि कहा गया है। यह 'नाम' धातु जन्य थे और 'धातु' तो स्वयं धातु रूप ही थे। मानवधर्मशास्त्र अध्याय १ में यह कहा गया है कि "वाचं" अर्थात् वाणी ईश्वर ने आदि ऋषियों को दी और युक्ति भी यह बात दर्शा रही है, तो लौकिक व्यवहार में उनको कष्ट होता होगा यह आशंका निर्मूल है। यदि किसी आदि ऋषिने किसी वैदिक शब्द का व्यवहार किसी भावको प्रगट करने के लिये किया, तो उसने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान द्वारा अपनी शिष्य मंडली को उसका भाव भी पूर्ण रूपसे जना दिया होगा। युरुप में आजकल शब्द

सिखाते हुए उनके अर्थ इस प्रकार बोधन करा देते हैं कि पूर्ण रूप से समझ में आजावें। यथा Run (रन) अंगरेज़ी का शब्द है, इसके अर्थ दौड़ने के हैं। अर्थबोधिनी शालाओं (किन्डर्गार्टेन-स्कूल) में मास्तर स्वयं दौड़ कर इसका अर्थ समझाते हैं। शब्द का अर्थ से संबंध होने पर ज्ञान होता है यह बात भारत के शास्त्री भली प्रकार जानते हैं। इस बात की पुष्टि कि वैदिक नाम भी धातु जन्य होते हैं, निरुक्त के इस प्रमाण से होती है।

तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च।

निरुक्त १। १२। २॥

अर्थ—नाम धातुओं से बने हैं यह शाकटायन और निरुक्त का सिद्धान्त है।

यही नहीं परञ्च सुप्रसिद्ध श्रीयुत महात्मा पंडित गुरुदत्तजी एम. ए. The Terminology of The Vedas (वैदिक शब्द संज्ञा) नामी सारगर्भित लघुपुस्तक में लिखते हुए दर्शाते हैं कि "वैदिक शब्द संज्ञाओं के अर्थ करने का पहिला नियम निरुक्तकार यास्क यह प्रतिपादन करते हैं कि सर्व वैदिक शब्द यौगिक हैं। निरुक्त के प्रथम प्रकरण के चौथे खण्ड में इसी विषय पर चर्चा चली है और वहां यास्क गार्ग्य शाकटायन और अन्य सर्व वैयाकरणी तथा व्युत्पत्तिकार एक मत से जनाते हैं, कि सब वैदिक शब्द यौगिक हैं, परंतु यास्क और शाकटायन का मत ऐसा भी है कि रूढ़ी शब्द भी यौगिक हैं, कारण कि वह भी धातु पर से बने हुए हैं। गार्ग्य का मत ऐसा है कि मात्र रूढ़ी शब्द यौगिक नहीं। इस खंड में गार्ग्य के मत का खण्डन है और ऐसा प्रति-

पादन करना है कि सर्व शब्द चाहे वे वैदिक वा रूढ़ी हों वह सब यौगिक हैं। निरुक्त के इस प्रकार आधार से अपने महाभाष्य में पतञ्जलि यही अभिप्राय दर्शाते हैं और वैदिक शब्दों को नैगम नाम से रूढ़ी शब्दों से जुदा करते हैं। पतञ्जलि लिखते हैं कि

" नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम् "
और उससे पहले यह लिखा है कि **" नैगम रूढ़ि भवं हि सुसाधु"**
अ० ३, पाद ६, सूत्र १ "

माण्डूक्योपनिषद् के अंगरेज़ी भाष्य में, उक्त विद्वद्वर्य्य पण्डित **गुरुदत्तजी एम. ए. के वचन इस प्रकार हैं**

" Even in the cycles of creation to come, since words signify things not arbitrarily but by a fixed natural standard, the same symbol Om, is made to express the same idea, because it is an established fact, with those who know Revelation or those yogis, who have realized, what the relation between the signifying symbol and the thing signified is, that the words, their corresponding ideas, and the relations between them is eternal or exists in nature, and not by human convention."

(अर्थ) "भविष्य के कल्पों में भी, इस लिये कि शब्द पदार्थों का बोधन नियम रहित नहीं, किन्तु एक स्थिर स्वाभाविक नियम से करते हैं, वही चिन्ह ओम्, उसी भाव को प्रगट करेगा.

क्यों कि जो ज्ञानउत्पत्ति विषय को जानते हैं वा वह योगी, जिन्हों ने यह बात साक्षात्कार करली है, कि वाचक चिन्ह और वाच्य

पदार्थ में क्या संबंध है, वही जानते हैं कि शब्द, उन के बोधक भाव और उन के संबंध नित्य हैं अथवा विश्व (नेचर) में रहते हैं और कोई मनुष्य उन को बना नहीं सकता "

वैदिक शब्दसंज्ञा ग्रन्थ में उक्त ग्रन्थकर्त्ता ने यह बात सिद्ध कर दिखाई है कि वैदिक शब्द यौगिक हैं इस लिए वेदों में इतिहास, ऐतिहासिक पुरुषों के नाम तथा कल्पित वार्त्ताएं नहीं हैं। अट्ठाईस वर्ष हुए कि एक समय भारतरत्न उक्त पंडित गुरुदत्तजी का लाहौर के ट्रिब्यून (Tribune) के सब एडिटर तथा ब्रह्मसमाज के उपदेशक बाबू बिपिनचन्द्रपाल से इस विषय पर संवाद हुआ था बाबूजी का प्रश्न यह था कि आदि ऋषियों पर शब्दमय ज्ञान का प्रकाश कैसे हुआ ? उत्तर में पंडित गुरुदत्तजी ने कहा कि प्रोफेसर बेन Profesor Bain. M. A L. L. D. ने अपने लेखों में Latent Cerebrum (लेटन्ट सेरीब्रम) का कथन किया है, जिसका भाव यह है कि मनुष्य का ज्ञान तिरोभूत अवस्था में उसके मस्तिष्क में रहता है जब यह बात है तो तिरोभूत ज्ञान ईश्वरीय प्रेरणा से प्रादुर्भूत हो सकता है।

हमारे विचार में जिसको प्रोफेसर बेन तिरोभूत मस्तिष्क का नाम देते हैं वह सञ्चित तिरोभूत ज्ञान संस्कार हैं।

शब्दार्थ संबन्ध के सिद्धान्त के अनुसार हम कह सकते हैं कि जब जब जिस जिस पदार्थ के गुण क्रिया जानने की इच्छा आदि ऋषियों के मन में होती होगी तब तब उन के समाधिस्थ मन में उन उन पदार्थों का ज्ञान ईश्वरीय प्रेरणा से उन के अन्दर प्रकाशित अथवा स्फुरित होता होगा, वा यूं कहो कि उन के तिरोभूत सञ्चित संस्कार

जागृत होते होंगे । ईश्वर, प्रेरणा से शब्दमय ज्ञान को प्रगट करता है, इस बात से कोई यह न समझ ले कि ईश्वर तार बाबू की न्याईं बार बार कर्म करने पर उद्यत होता है । जिस प्रकार सूर्य्य अपने तेज से सदैव चमकता रहता है, उसी प्रकार सत् चित् आनन्द स्वरूप परमेश्वर अपने ज्ञान से सदैव प्रकाशित हो रहा है । जो दर्पण मलिन हैं वह सूर्य के प्रकाश को अपने अन्दर धारण नहीं करते । सूर्य्य की प्रेरणा तो मानो सदैव एक रस रहती है परन्तु दर्पण शुद्ध होने पर ही उस को धारण कर सकता है । ठीक उसी प्रकार समाधिस्थ मनुष्य अपने निर्मल मन में ईश्वरीय प्रेरणा को अनुभव करने लगते हैं जो कि समाधि रहित मनुष्य, अनुभव नहीं कर सकते । आकाश में शब्द भर रहा है, किन्तु समाधिस्थ योगी के दिव्य श्रोत्र उस के नाद को सुन सकते हैं ।

इसी लिए शतपथ ब्राह्मण कांड १४ अध्याय ५, में महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री पंडिता मैत्रेयी को कहते हैं कि परमेश्वर से ऋग् यजु, साम और अथर्व यह चार वेद ऐसे उत्पन्न हुए हैं जैसे मनुष्य के शरीर से श्वास बाहर को आता है । इस दृष्टान्त से महर्षि याज्ञवल्क्य का भाव यह है कि वेद के प्रकाश करने में ईश्वर को कोई कष्ट वा श्रम विशेष नहीं होता । सच तो यह है कि जिस प्रकार मनुष्य को श्वाश लेने और निकालने में कुछ भी कष्ट नहीं होता, उसी प्रकार यह बात समझनी चाहिए, देखिए सोजाने पर भी विना श्रम के मनुष्य का श्वाश सहज स्वभाव से चलता रहता है । इसी प्रकार ज्ञान रूपी सूर्य्य अथवा ईश्वर से वेद रूपी किरण सदैव सहज स्वभाव से निकलती रहती हैं किन्तु समाधिस्थ जन समाधि की न्यूनाधिकता से उस का न्यून व अधिक प्रकाश धारण कर सकते

हैं ।* आदि सृष्टि में अमैथुनि मनुष्यों के अत्युत्तम् मनादि साधन थे इस लिए वह पूर्ण समाधि अवस्था को सहज से प्राप्त हो सकते थे जो आज वर्षों की तपस्या से भी नहीं हो सकते । उन आदि ऋषियों को शब्द और अर्थ दोनों का प्रकाश हुआ जब कि आज कल के ऋषि मुनियों को जो कि मैथुनिसृष्टि के हैं केवल अर्थ का ही भान हो सकता है । आविष्कार कर्त्ता न्यूटन, एडिसन आदि के जीवन चरित्र पढ़ो उनसे पता लगेगा कि यह समाधिस्थ अवस्थाको निःसंदेह प्राप्त होते रहे हैं । इनपर वेद के एक एक सूक्त का प्रकाश हुआ, हम ऐसा कहें तो ठीक होगा, पर वेद के अथवा किसी भाषा के शब्द इन्हों ने नए नहीं बनाए ।

जिस प्रकार एक धर्मात्मा कवि किसी बाग़ की सैरको जाता है तो उसके मन में बाग़ के पदार्थों की महिमा प्रतीत होने लगती है और वह उस ज्ञानमय महिमा को अपने नियमित भाव पूर्ण शब्दों में प्रगट करता है जिसे कविता कहते हैं । प्राण धारण करने के पश्चात् सृष्टिरूपी शाला में जब आदि चार ऋषियों के मन ने प्रवेश किया तब, तब जो जो शब्द समाधि में उन को प्राप्त हुए उन को उन्हों ने ज्यूं के त्यूं शिष्य मंडली के लिए उच्चारण किये और समझाये वह आदि शब्द वेद मंत्रों के रूप में आज तक मौजूद हैं। विषय भेद से वेद के चार भाग हैं जैसे

ऋग्वेद—Theories of all Sciences. **ज्ञानकांड ।**
यजुर्वेद—Practice of Useful Arts and Machines **कर्मकांड !**
सामवेद—Practical Spiritual Science. **उपासनाकांड ।**
अथर्ववेद—Wisdom and Solution of the riddles, pertaining to Nature, Man and God. **विज्ञानकांड ।**

---

* इसी तत्वका बोधक गायत्री मंत्र है ।

चिरकाल तक यह चार वेद श्रुतिकी अवस्था में मनुष्यों के मन के अन्दर सुरक्षित रहे (देखो यजु० अध्याय ३१) उस समय मनुष्य का मन वेदों का पुस्तकालय था और मनुष्य की बुद्धि उस का भाष्यकार ऋषि, क्योंकि यजुर्वेद में " सप्तऋषयः " इस मंत्र में बुद्धि को ऋषि कहा गया है। जब मनुष्यों की स्मृति कम होने लगी तब वेदों को पुस्तक में लिख कर सुरक्षित रखना पड़ा। निरुक्त अध्याय एक खंड बीस के पाठ से विदित होता है, कि जब वेदार्थ के समझने वाले लोग मेधा और आयु से हीन होने लगे तब उस के अर्थबोधक अङ्ग ग्रन्थ रचने की आवश्यकता पड़ी।

यदि हम आदि सृष्टि अथवा उस समय का चित्र अपनी मानसिक दृष्टि के आगे खैंचे जिस समय के वेद श्रुति की अवस्था में ही थे तो हमें प्रतीत होगा कि उस समय, माता पिता और गुरुसे

प्रवचनद्वारा

शिक्षण लेते थे। स्लेट (पत्थर पाटी) कागज़ लेखिनी पुस्तकें आदि साधन जिनपर बहुत सा द्रव्य आज खर्च होता है, उस समय यह निरुपयोगी थे। पुस्तकाकार होने पर भी यद्यपि इन साधनों की आवश्यकता पड़ी और वह पूर्ण किए गए, तो भी " विद्याकंठ और पैसा गंठ " का सिद्धान्त लोग भूले नहीं थे। युरुप में आज स्मृति को बढ़ाने की युक्तियां बताने वाले, भारतीय ऋषियों की प्रवचन पद्धति की महिमा गा रहे हैं, और डेन्मार्क (Denmark) में आज तक वही प्रवचन पद्धति पर शिक्षण दिया जाता है।

आदि ऋषियों को ज्ञान तथा वाणी × दोनों ही ईश्वरीय

× लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्त्तते। ऋषीणां पुनराधानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥ (भवभूति)

प्रेरणासे मिलते हैं। मैथुनी सृष्टि वालों को शब्द और अर्थ दोनों मनुष्य सिखाते हैं। आदि भाषा, शब्द तथा ज्ञान दोनों बातों में पूर्ण होती है। पिछली भाषाएं पूर्ण उन्नति करनेपर भी आदि भाषा, तथा आदि ज्ञान से बढ़ नहीं सकतीं, वहां तक ही पहुंच सकती हैं।

निम्नलिखित निरुक्त के संस्कृत प्रमाण तथा अर्थ से जिसका कुछ वर्णन ऊपर किया है, इसी भाव की पुष्टि होती है, कि पिछले समय में लोग शक्तिहीन होते गए और उनको आदि ऋषियों के आदर्श जीवन पर लेजाने के लिए निरुक्त आदि अंगों की आवश्यकता पड़ी।

साक्षात्कृतधर्मा ऋषयोबभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः॥ उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्ना सिषुर्वेदंच वेदाङ्गानि च॥ बिल्म भिल्मं भासन मिति वा॥

निरुक्त अ० १ खं० २०-२॥

अर्थ-तप के द्वारा साक्षात् किया है, धर्म जिन्होंने ऐसे ऋषि थे। वह अपने से उत्तर कालीन शक्तिहीन (जोकि केवल श्रवण द्वारा ऋषि हुए) उनको उपदेश द्वारा मंत्रों को देते हुए तथा उनसे अगले ऋषि, जो उपदेश से भी खिन्न होने लगे तब उनको इस वेदरूप निघण्टु तथा निरुक्तादि ग्रन्थों का उपदेश दिया।

इस समय यदि हम एक क्षण के लिए भूगोल की भाषा-

अर्थ—लौकिक साधुओं की वाणी अर्थ के पीछे चलती है और आदिम ऋषिओंकी वाणी के पीछे अर्थ दौड़ता है॥

ओं तथा उनकी वर्णमालाओं पर दृष्टि डालें, तो हम को मानना ही पड़ेगा कि सम्पूर्ग भाषाएं तथा उनकी वर्णमालाएं अपूर्ण हैं। चीनी जापानी भाषा तथा उनकी वर्णमाला और लिपि कैसी अपूर्ण हैं ! अंग्रेज़ी भाषा phonographic (ध्वन्यात्मिक) भाषा नहीं। लिखो कुछ उच्चारण करो कुछ। अंग्रेज़ी वर्णमाला के कितने वर्ण अनेक प्रकार से उच्चारण का काम देते हैं और किस प्रकार से यह वर्णमाला अपूर्ण है यह प्रत्यक्ष ही है। युरुप की सब भाषाओं तथा वर्णमालाओं की भी यही गति है। अफरीका, हिन्दुस्थान, तथा एशिया की वर्तमान भाषाओं तथा वर्णमालाओं में संस्कृत भाषा और संस्कृत वर्णमाला की अपेक्षा कितने दोष हैं वह सब जानते हैं।

वैदिक संस्कृत (आदि भाषा) यौगिक होने से उस के **नाम** तथा **आख्यात** सब **अर्थवान** होते हैं। उन शब्दों के रूप समझने के साथ उन के

यथार्थ अर्थ, व्याख्या वा लक्षण

भी समझ में आ सकते हैं। India What Can it Teach Us ? इस पुस्तक में मैक्समूलरने अनुभव किया है कि संस्कृत शब्द

सत्य

के कहने और समझ लेने से, **विशेष व्याख्यान वा लक्षण** की ज़रूरत फिर नहीं रहती। अंगरेज़ी में कहो कि

Speak the truth

(सत्यंवद)। " ट्रुथ " क्या है इस के यथार्थ लक्षण वा व्याख्या के लिये पृथक् व्याख्यान करना होगा, पर संस्कृत में सत्य का शब्द ही उस के लक्षण और व्याख्यायुक्त अर्थ का बोधक है। सत्य, शब्द,

अस धातु से बना है जिस के अर्थ होने के हैं। सत्य के अर्थ हैं

जो हो

" ट्रुथ " शब्द, वा भूगोल की किसी भाषा का सत्य बोधक कोई भी शब्द कभी उस के यथार्थ अर्थ लक्षण वा व्याख्या को इस सार-गर्भित वा उत्तम अथवा पूर्णरूप से नहीं बोधन करा सकता जैसा कि संस्कृत का सत्य शब्द। यह तो एक दृष्टान्त है। युरुप के एक विद्वान् की ९०० पृष्ठ की पुस्तक पढ़ने से पता लगता है कि Civilized Man (सभ्य मनुष्य) क्या है? पर वैदिक संस्कृत का एक छोटा सा शब्द

सभ्य

उसी यथार्थ अर्थ, लक्षण वा व्याख्यान से सूत्रवत् युक्त है। जो ५०० पृष्ठ के अन्दर व्याख्या रूप से है और जिसका सार वा सूत्र " सभ्य " शब्द है। " सभ्य " के अर्थ संस्कृत में उसकी बनावट को समझने से यह होते हैं कि जिस में " सभा में काम करने की योग्यता हो " वा " जो सभा के योग्य हो "।

Sociology (समाजशास्त्र) पढ़ने पर युरुप का विद्वान् कह सकता है कि मनुष्य सभ्य तब हुआ जब मिलकर वा सभा समाज बनाकर काम करने लगा। परन्तु इतनी बात को सूत्र रूप वा सार रूप से संस्कृत का शब्द

सभ्य

जिस उत्तमता से वर्णन कर रहा है वह अद्भुत है। इस शब्द के अर्थ समझ लेने से ९०० पृष्ट के किसी ग्रन्थ के पढ़ने की क्या आवश्यकता है? एक एक वैदिक संस्कृत वा वेद का शब्द ज्ञान

रूपी सागर को गागर में भरे हुए बैठा है। Saturn ग्रह के विषय में कहते हैं कि इसकी चाल बहुत धीमी है। संस्कृत में इस का नाम ही शनैश्चर है, जिस के अर्थ यह हैं कि जो धीमे धीमे चले।

Nature अंगरेज़ी में कुदरत को कहते हैं, पर संस्कृत में जो शब्द है वह

सृष्टि

है। सृष्टि के अर्थ हैं जो बनी हो वा उत्पन्न हुई हो। सृष्टि शब्द को समझ कर कोई नास्तिक नहीं रह सकता। पर जब इस एक शब्द का व्यवहार उसके यथार्थ अर्थों में नहीं रहा तब से लोग नास्तिक बनने लगे।

बौद्धमत के समय में कई शब्द तो शुद्ध संस्कृत में रहे पर कई अपभ्रंश हो गये। धर्म यह शब्द तो आदि बौद्ध ग्रन्थों में धर्म रहा। कर्म यह शब्द जैन गाथाओं में कम्म रूप से मिलता है। इन शब्दों के रूप ही इतिहास बोधक हैं। वह जैन ग्रन्थ जिन में **कर्म** के स्थान में **कम्म** उपयुक्त हुआ है, वह प्रथम संस्कृत समय के नहीं किन्तु पिछले समय के हैं। इस लिये वह शब्द कभी उतना ज्ञान नहीं दे सकते जितना कि संस्कृत का शुद्ध शब्द

कर्म

दे रहा है। बौद्धधर्म, जैनधर्मसे कुछ पहिले हुआ होना चाहिये वा समकालीन कहें तो भी यह तो मानना पड़ेगा कि बौद्ध ग्रंथों में जैन ग्रन्थों की अपेक्षा भाषा अधिक शुद्ध है। बौद्धमत के पिछले ग्रन्थों में " धर्म " " कर्म " शब्दों की जगह धम्म, कम्म, जैन

ग्रन्थों की न्याईं देखने में आते हैं। जो महानुभाव यह मत रखते हैं कि पाली भाषा तथा लिपि पहिले बनी, पीछे संस्कृत, उनसे हम सहमत नहीं, कारण कि पाली भाषा और लिपि, संस्कृत भाषा और लिपि का स्पष्ट विकृतरूप है। पाली भाषा में धर्म, कर्म को धम, कम कहते हैं। पाली के समान जिन्दावस्था की भाषा है, जो बतलारही है कि जिन्दावस्था के शब्द निःसंदेह वैदिक संस्कृत के विकार हैं। जिन्दकी भाषाने वर्तमान फारसी को जन्म दिया।

मैक्समूलर का कथन है कि अशोक लिपि दो प्रकार से लिखी जाती थी। एक प्रकार तो वाम हाथ से दक्षिण हाथ को जाने का और दूसरा दक्षिण हाथ से वाम की तरफ जानेका।

इससे अनुमान होता है कि अशोकलिपि के वाम प्रकार ने अरबी आदि वाम लिपि को उत्पन्न किया

मैक्समूलर इस बात को मुक्तकंठ से मानता है कि ऋग्वेद, मानवी पुस्तककालमें सब से आदि पुस्तक है। अतः हम कह सकते हैं कि

ऋग्वेदीयलिपि

सब से आदि लिपि है। ऋग्वेदीयलिपि, दक्षिण लिपि है। ऋग्वेदीय भाषा वैदिक आदि भाषा है। इस लिये मनुष्य की आदि भाषा संस्कृत और आदि पूर्ण उत्तम लिपि देवनागरी अर्थात् संस्कृत थी। वैदिक संस्कृत भाषा, और संस्कृत लिपि ही सर्व भाषाओं और सर्व लिपियों की जन्मदातृ है।

गिरीश (Greece) देश वासियों ने अपने नगरों के नाम

संस्कृत शब्दों में रखे यह बात पोकाक साहेबने सिद्ध की है। ग्रीक लिपि दक्षिण लिपि है, पर ग्रीक वर्णमाला संस्कृत वर्ण-माला के

पूर्ण भंडार

से अपूर्ण रूप में ली गई है। इस वर्णमाला के अक्षर Phonographic (ध्वन्यात्मिक) नही हैं, किन्तु बहुत ही अपूर्ण हैं।

यथा संस्कृत के **अ** की ध्वनि को ग्रीक में "**एल्फा**" और **ब** की ध्वनि को ग्रीक में **बीटा** उच्चारण करते हैं। अरबी के अक्षर यद्यपि वाम लिपि में लिखे जाते हैं तो भी ध्वनि में प्रायः ग्रीक की अपूर्ण ध्वनि के समान हैं, संस्कृत में जो अ है, अरबी में उस को "अलिफ" और संस्कृत में जो ब है उस को अरबी भाषा में "बे" उच्चारण करते हैं। लेटिन लिपि और वर्णमाला भी संस्कृत की अपेक्षा अपूर्ण ही है। फ्रेंच भाषा तथा लिपि जो इस समय युरुप में सर्वत्र समझी जाती है, वह भी अंग-रेज़ी भाषा तथा लिपि के समान अपूर्णही है।

हीब्र्यू (Hebrew) कैल्डी, सिरयक, तथा अरबी शब्दों में स्वर न्यून और व्यञ्जन अधिक होते हैं।

हमारे विचार में निष्पक्ष बुद्धिमान् जान लेंगे, कि जिस भाषा के शब्दों में व्यंजन मर्य्यादा से अधिक हों वह भाषा उत्तम कोटि की कभी नहीं हो सकती।

कोई कह सकता है कि अशोक ने क्यों वाम लिपि का प्रचार किया? इसका उत्तर यह है कि राजा आदि लोग आपत्ति काल के

लिए, क्लिष्ट, गुप्त, विकारमय वा असाधारण भाषा वा असाधारण लिपि की रचना कराते हैं। एक भाषा वा लिपि को विकारमय, परिवर्तन, अथवा न्यूनाधिक करने से अनेक भाषाएं बनती रही हैं और आगे को बनेंगी भी। पर विद्या भाषा, देव वाणी तो शुद्ध पूर्ण संस्कृत ही रहेगी जिसका प्रथम नाम वेद वाणी है।

वह वेद वाणी क्या है, इस विषय में मानवधर्मशास्त्र के निम्न-लिखित उत्तम श्लोक मनन तथा धारण करने योग्य हैं।

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन्॥ १॥

भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि॥ २॥

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो॥ ३॥

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणिच पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्यएवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥ २१॥

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्॥ २३॥

तपोवाचं रतिं चैव कामंच क्रोधमेव च।
सृष्टिं ससर्ज चैवेमां स्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः॥ २५॥

यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये।
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः॥ ३०॥

अर्थः—महर्षि लोग एकान्त में विराजमान मनुजी के निकट जाकर, उन का यथोचित् पूजन कर, यह वचन बोले कि॥ १ ॥ महाराज ! संपूर्ण वर्णों और वर्णसंकरों के धर्मों का यथावत् क्रम से हम लोगों को उपदेश करने में आप समर्थ हैं । २ ॥ क्योंकि संपूर्ण वेद (ऋग्यजुः साम अथर्व) के कार्य (ज्योतिष्टोमादि यज्ञ, चान्द्रायणादि व्रत और नित्यकर्म संध्यावन्दनादि) के यथार्थ प्रयोजन के जानने वाले आप एक ही हैं । जो वेद कि अचिन्त्य, अप्रमेय, अनादि परमात्मा का विधान (क़ानून) है ॥ ३ ॥ उस (परमात्मा) ने सृष्टि के आरम्भ में उन सब के पृथक् पृथक् नाम और कर्म और व्यवस्था वेदों से निर्माण कीं ॥ २१ ॥ (उस ने) यज्ञ के अर्थ सनातन वेद, जिसके तीन भेद=ऋग्यजुः साम हैं, इन को अग्नि वायु सूर्य से (अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, सूर्य से सामवेद) प्रकट किया ॥ २३ ॥ प्रजा के उत्पन्न करने की इच्छा करते हुए ने तप, वाणी, रति (जिस से चित्त को प्रसन्नता होती है), काम तथा क्रोध को उत्पन्न किया ॥ २५ ॥ जैसे वसन्त आदि ऋतुएं अपने समय में निज निज ऋतु चिन्हों को प्राप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्यादि भी अपने अपने कर्मों को पूर्व कल्प के बचे कर्मानुसार प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३० ॥

उक्त श्लोकों का सार :—

(क) श्लोक १ से ३ तक वेद, अनादि परमेश्वर का विधान, "कानून" वा नियमावली है यह तत्व दर्शाया गया है ।

(ख) ईश्वर ने आदि सृष्टि में सब पदार्थों के **नाम**, कर्म, और **व्यवस्था**, वेदों से निर्माण कीं यह २१ वें श्लोक का भाव

है। इसी भाव को लेकर क्रिश्चियन तथा इसलामी साहित्य में कहा गया है कि आदम ऋषि को ईश्वर ने सब नाम सिखाए थे।

(ग) श्लोक २३ से सिद्ध होता है कि, वेद सनातन हैं, और उन के तीन भाग, अग्नि, वायु तथा रवि, इन तीन परम योगियों तथा ब्रह्मर्षियों द्वारा ऋग्, यजु, तथा साम भेद से ईश्वर ने उनपर प्रगट किये।

(घ) श्लोक २९ दर्शा रहा है कि "वाचं" अर्थात् वाणी का प्रकाश करने वाला ईश्वर है।

(ङ) श्लोक ३० दर्शा रहा है कि मनुष्यादि प्राणी, आदि सृष्टि में, अपने पूर्व कल्प के कर्म अनुसार शरीरों को प्राप्त होते हैं॥

चत्वारिशृंगा— — — — — इस मंत्र में जैसा कि हम ऊपर दर्शा चुके हैं, मानवी भाषा की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। डारविन मतानुयाइयों की कल्पनाओं का जो वह मानवी भाषा उत्पत्ति संबन्धी करते हैं भारी खंडन इस मंत्र में भरा पड़ा है।

(क) यह मंत्र दर्शा रहा है कि शब्द ने मनुष्यों में प्रवेश किया। इस कथन से यह बात दूर हो गई कि मनुष्य ने वाणी पशु पक्षी के शब्दों के अनुकरण से सीखी।

(ख) साथही दर्शाया है कि वह वाणी मनुष्य के शरीर के अन्दरसे ही उत्पन्न हुई। कारण रूप वा नाद अवस्था से वह वाणी निकल कर स्फोट रूप वा कार्य्य शब्द अथवा व्यक्त वाणी के रूप में प्रगट हुई।

(ग) †जिस प्रकार पशु पक्षियों की वाणी को उत्पन्न करने के साधन छाती कंठ और तालु जगदीश्वर ने दिए हैं। उसी प्रकार छाती कंठ और तालु यह तीन उत्पत्ति के साधन इसी मनुष्य शरीर के अन्दर मानवी भाषा की उत्पत्ति के लिए विद्यमान हैं, इस का वर्णन इस मंत्र में किया गया है । अतः मानवी भाषा शरीर के अन्दर से ही जन्मती है, बाहिर दूसरे पशु के शरीर में नहीं ।

(घ) जिस प्रकार पशु प्राणी अपने अपने कार्यों की सिद्धि के लिये अपने लिए वाणी रखते हैं और उन को किसी दूसरे पशु की वाणी की आवश्यकता नहीं पड़ती, ठीक उसी प्रकार मनुष्य को पूर्ण रूप में भाषा मिली है । क्योंकि मंत्र दर्शा रहा है कि मनुष्य की वाणी वर्षा की न्याईं पूर्ण और सर्व कामना सिद्ध करने के लिये है ।

(ङ) वाणी वा शब्द जो मनुष्य को मिले, वह क्या व्यर्थ अथवा रूढ़ी हैं ? इस प्रश्न का उत्तर "चत्वारि शृंगा" यह कह कर इस उत्तमता से दिया है, मानो गागर में सागर भर दिया। वह उत्तर यह है कि वाणी के ४ भाग, नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात हैं। उपसर्ग और निपात तो मानो सहायक शब्दरूप हैं, पर वाणी वा शब्द के आधार स्तंभ **नाम** तथा **आख्यात** ही हैं ।

---

† आत्मा बुध्या समेत्यार्थान् मनो युंक्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्नि माहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्दं जनयति स्वरम् ॥

महाभाष्य में लिखा है, कि जब आत्माबुद्धि से युक्त मन को प्रेरणा करता है तो मन " कायाग्नि (शारीरिक विद्युत्) का ताड़न करता है। यह विद्युत् " मारुत " वायुको धक्का देता है । फिर मन्द स्वर नाद पैदा होता है जो कि कंठ तालू में जाकर वाणीरूप धारण करता है ।

जितने भी विश्वभर में पदार्थ हैं वह गुण अथवा क्रिया को लिये हुए रहते हैं। किसी में गुण प्रधान हैं, किसी में क्रिया। उन सब को जो गुण प्रधान हैं बोधन करने के लिये **नाम** हैं और **क्रिया** प्रधान पदार्थ हैं उन को **आख्यात** बोधन कर रहे हैं।

समग्र पदार्थों के गुण वा क्रियाओं का कथन करना सायंस (विज्ञान) का काम है, अतः वैदिक शब्द संपूर्ण सायंस के Terms (शब्द संज्ञा) मूल रूपसे लिये हुए हैं।

जो लोग कहते हैं कि क्या वेदों में सायंस (पदार्थ विज्ञान) है वा नहीं ? उस का उत्तर इस से बढ़कर क्या हो सकता है, कि समग्र पदार्थों के गुण और क्रिया बोधक वैदिक शब्द हैं ? अतः सायंस संबंधी शब्दरूपी बीजों का कोश वेद हैं। यदि कोई कहे कि वैबस्टर डिक्शनरी (Webster's Dictionary) (शब्दकोश) में सायंस के शब्द हैं वा नहीं तो मानना पड़ेगा कि हैं। वैबस्टर शब्दकोश से कहीं बढ़कर चार वेद, (१) सायंस, (२) शिल्प, कला, यंत्र (३) उपासना और (४) विज्ञान रूपी शब्दों से भर रहे हैं। वेद केवल कोशही नहीं किन्तु मूल रूप से सूत्रवत् एनसाईक्लोपीडिया अर्थात् विश्वविद्याकोश भी हैं।

कई लोग कहते हैं कि वैदिक संस्कृत ठीक नहीं, कारण कि इस पर से रचे हुए शब्द कोशों में एक पदार्थ के लिये अनेक शब्द आते हैं। यदि एक ही शब्द होता तो अच्छा था। उन को जानना चाहिये कि एक रश्मि शब्द के लिये यदि वैदिक निघंटु में १५ प्रकार के शब्द आते हैं, तो वह वास्तव में १५ प्रकार के भिन्न गुण वा भिन्न क्रियाएं रश्मि संबंधी वर्णन करते हैं। व्यर्थ १५ शब्द नहीं हैं।

रश्मि (Rays) क्या यह एक ही शब्द, रश्मियों के नाना गुण और नाना क्रियाओं को बोधन कराने के लिये आज काफी समझा गया है ? नहीं, नहीं कभी नहीं । "X Rays" (एक्स रश्मि) यह शब्द रॉटिंजन महोदय को संकेत से रश्मि के विचित्र गुण जानने पर बनाने की ज़रुरत पड़ी वा नहीं ।

यदि १५ प्रकार के शब्द वेद पर से बने हुए वैदिक निघंटु में हैं तो मनुष्य मात्र को इस का अभिमान होना चाहिये कि उन सब के आदि पितृ कहांतक सायंस में उन्नति किये हुए थे जो रश्मि संबंधी १५ प्रकार की विद्या जानते थे ।

गायत्रीमंत्र दर्शाता है कि ईश्वर ज्ञानरूपी सूर्य्य है और जब जब मनुष्य आरोग्यता तथा सदाचार रूपी तपस्या से बुद्धि को उन्नत तथा शान्त कर उसके ध्यान में निमग्न होते, वा उस में समाधि लगाते हैं तो मानवी बुद्धि, ईश्वरीय ज्ञान रूपी सूर्य्य से योग्यतानुसार ज्ञान धारण करती है । इसीलिये गायत्री मंत्र की महिमा महान् कही गई है । कारण कि यह मानवी ज्ञान की सीमा के रहस्य को यह कह कर बोधन करा रहा है, कि जो बुद्धि ईश्वरीय ज्ञानरूप प्रेरणा की पात्र है, उस को ज्ञानमय ईश्वर, ज्ञान प्रदान करते हैं । प्रत्येक मनुष्य को सब देशों में यह महान् अधिकार प्राप्त है, कि वह स्वयं पात्र बनकर, अपनी बुद्धि में उस ज्ञानकी ईश्वरीय प्रेरणा को धारण करे, जो आदि ऋषियों ने धारण की थी और अब भी अधिकारी जन धारणा करते हैं और आगे, करेंगे भी ॥

परिशिष्ट

अक्षरमालाओं का उच्चारण

अंग्रेज़ी

ए, बी, सी, डी, ई, एफ़, जी, एच, आई, जे, के, एल, एम, एन, ओ, पी, क्यू, आर, एस, टी, यू, वी, डब्ल्यू, एक्स, वाइ, ज़ेड.

फ्रेंच*

आ, बे, से, दे, ए, एफ, जे, आशे, ई, झी, का, एल, एम, एन, ओ, पे, कु, एर, एस, ते, यु, वे, दुबलवे, इस्क, इग्रे, झेद ।

(फ्रेंच शब्द) मेर = माता फ्रेर = भाई गारसां = लड़का
पेर = बाप सर = बहिन आंफां = बच्चा
बोंझुर = बन्दगी सलाम

(फ्रेंच)

जान दम आला विल ।

जान रहता है बीच ग्राम ।

पुरकवा फेर

किस लिये वा क्या करना

से मा फोत सेवत्र फोत

यहहै मेरा दोष यह तुम्हारा दोष है

तांबे=गिरपड़ा

---

* फ्रेंच भाषा सब युरुप में समझी जाती है।

सी=हां	सीजस्वी तांबे
मेम=भी	हां मैं गिर गया हूं
लासीएन=उसका	जबुलेला वार
ए=और	मैं उसे देखना चाहता हूं
मोंसर=साहेब	

Article ल = The = अथ

आर्टिकल साहित		विना आर्टिकल के
लेर,	(हवा)	एर
लफ	(आग)	फा
लातेर	(जमीन)	तेर
लो	(पानी)	ओ
लकार्प	(शरीर)	कार्प
लातेत	(शिर)	तेत
लबुस्त	(धड़)	बुस्त
लबरा	(बाहु)	बरा
लाझांबे	(टांग)	झांबे
लाफिगुर	(मुख)	फिगुर
लेपो	(कंधा,)	पो

०

चतुर्थ अध्याय

हेनरी ड्रूमंड महोदय ने अंगरेज़ी मे एक पुस्तक लिखी है जिस का नाम "एसँट ओफ मेन*" (मनुष्य उत्क्रान्ति) है। इस ग्रन्थकार ने डारविनमत में जो क्रूरता बोधक भाग है, उस अंश का उत्तम प्रकार से खंडन किया है और सिद्ध किया है कि डारविन महोदय ने पुरुषार्थ को जो प्राणरक्षा वा भोजन प्राप्ति के लिये आवश्यक है, अति-उक्ति का रूप देकर जीवन संघर्ष के नाम से पुकार कर लोगों को भ्रम में डाल दिया है। साथ ही ड्रूमंड महोदय ने

सन्तान रक्षा

को, जो प्रत्येक पशु करता है, परोपकारी गुणों का प्रगट कर्त्ता दर्शाया है। यह लेख उनका इस योग्य है कि प्रत्येक पाठक उन के ही शब्दों में पढ़े, इस लिये नीचे हम पूर्व आंगल भाषा में वह देकर पीछे उसका अनुवाद देंगे। यह ग्रन्थ कर्त्ता सर्वांश में डारविन मत का खंडन नहीं कर सका, इस ग्रन्थ के उस अंश को हम ग्राह्य नहीं समझते, जो हमारे विचार में तर्क युक्त नहीं है। यहां वह लेख उद्धृत करते हैं जो इस ग्रन्थ का भूषण है।

" The significant note is ethical, the development of Other-ism, as Altruism-its immediate and inevitable out come. Watch any higher animal at that most critical of all hours-for itself, and for its species-the hour when it gives birth to another creature like itself. Pass over the purely physiological processes of birth;

* Ascent of Man. By Henry Drummond.

observe the behaviour of the animal-mother in presence of the new and helpless life which palpitates before her. There it lies, trembling in the balance between life and death. Hunger tortures it; cold threatens it; danger besets it; its blind existence hangs by a thread. There is the opportunity of Evolution. There is an opening appointed in the physical order for the introduction of a moral order. If there is more in Nature than the selfish Struggle for life the secret can now be told. Hitherto the world belonged to the Food seeker, the Self seeker, the Struggler for Life, the Father. Now is the hour of the Mother. And, animal though she be, she rises to her task. And that hour, as she ministers to her young, becomes to the world the hour of its holiest birth.

Sympathy, tenderness, unselfishness, on the long list of virtues which make up Altruism, are the direct outcome and essential accompaniment of the reproductive process."

" What more has come into humanity along the line of the Struggle for the life of Others will be shown later. But it is quite certain that of all the things that minister to the welfare and good of Man, of all that make society solid and interesting, of all that make life beautiful and glad and worthy, by far the larger part has reached us through the activities of the Struggle for the Life of Others.' *

अर्थः—" मुख्य बात आध्यात्मिक है, पररक्षा अथवा परोपकार, जो कि इसका निकटवर्त्ती और आनिवार्य्य परिणाम

---

* Ascent of Man by Henry Drummond.

है। किसी भी पशु को इस संकट काल में देखो, जो कि इस के लिये तथा इस की संतान के लिये भारी संकट भरा है, वह संकट काल जिस में यह अपने जैसे प्राणी को जन्म देता है। जन्म की सर्व शरीर संबंधी क्रियाओं को छोड़कर, माता के उस वर्ताव का नीरीक्षण करो, जो कि यह नए, असमर्थ, प्राणी के साथ जिसका हृदय इसके सामने कांप रहा है, करती है। जीवन और मृत्यु के पलड़ों में पड़ा हुआ बच्चा कांप रहा है। इसे भूख पीड़ा दे रही है, ठंडी घबरा रही है, भय घेरे हुए है, इस का अन्य जीवन संदिग्ध है उत्क्रान्ति के लिये अवसर है। भौतिक रचना के अन्दर से आध्यात्मिक विकास का समय है। सृष्टि में अपने जीवन निर्वाह का ही स्वार्थ अधिक है वा क्या, उस का रहस्य अब खुलता है। अबतक तो भोजनप्रिय, स्वार्थप्रिय, जीवन के लिये संघर्ष मचाने वाले, पिता का ही राज्य था। अब माता के राज्य का समय आया। माता यद्यपि पशु है तो भी पूर्ण योग्यता दिखाती है। और वह घड़ी जब कि वह बच्चे की संभाल लेती है, संसार में जन्म की सब से पवित्र घड़ी हो जाती है।"

सहानुभूति, प्रेम, निस्वार्थपन तथा पुण्य के अन्य स्वरूप जो परोपकार के अन्तर्गत हैं वह सब प्रत्यक्ष तथा अटल रूप से जन्म क्रिया के साथ ही जन्म लेते हैं"............

"दूसरों के प्राण बचाने के नियम पर आरुढ़ होने से, क्या क्या गुण मनुष्य समाज में आये हैं, उन का व्योरा आगे चलकर दर्शाएंगे। किन्तु यह निर्विवाद है, कि उन सब साधनों से मनुष्य को सुखशाति मिली है, जिस से समाज दृढ़ तथा रोचक

बना है, जिस से जीवन सुन्दर, प्रसन्न और उच्च बना है, इन सब का आधार वह पुरुषार्थ है जो परहित के लिये किया जाता है ”

*सरस्वतीचंद्र, नामी गुजराती के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ के भाग ३, पृ० ४५ में जो महाभारत का प्रमाण राज्यधर्म वर्णन करने के लिये दिया गया है, उसको हम यहां उद्धृत करते हैं। किस उत्तमता से महर्षि व्यासदेव ने परहित के लिये तपस्या कर्म को गर्भिणी स्त्रीके दृष्टान्त से दर्शाया है, यह बात मनन करने योग्य है। प्रसव समय के साथ स्त्री किस प्रकार परोपकार मूर्ति हो जाती है, इसका वर्णन ड्रूमंड महोदय ने भली प्रकार किया है। पर गर्भ दशा में किस प्रकार माता संतान का भावी हित लक्ष्य में रख कर उस आहार विहार को करती है जो उस के लिये उपयोगी हो, यह बात व्यासदेव के वचन अति उत्तमता से दर्शा रहे हैं। सच पूछो तो गर्भिणी से बढ़कर परोपकारार्थ तपस्या करने वाला कौन हो सकता है ? कोई नहीं। यह तपस्या गर्भिणी से कैसे होती है ? उस का उत्तर यह है कि उस में प्रेम तत्व प्रधान है।

पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः॥
भवितव्यं सदा राज्ञा गर्भिणी सहधर्मिणा।
कारणंच महाराज श्रृणु येनेदमिष्यते॥
यथाहि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम्।

---

* गुजराती भाषा का यह सर्वोपरि नवल ग्रन्थ है।
बी. ए. क्लास के गुजराती शिक्षण में छात्र इसे प्रायः पढ़ते हैं।
जयदेव ब्रदर्स से यह पुस्तक मिल सकता है।

गर्भस्यहित माधत्ते तथाराज्ञाप्यसंशयम् ॥
वर्त्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्त्तिना,
स्वंप्रियंतु परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत् ॥

[महाभारत शान्तिपर्व]

अर्थ—" पिता के घर में जिसतरह पुत्र फिरते हैं, वैसे जिस राजा के राज्य में मनुष्य निर्भय फिरते हैं वह राजाओंमें श्रेष्ठ है ।

राजा सदा गर्भिणी के समान धर्म पाले, किस लिये ऐसा करे, सो हे महाराज सुनो, जिसतरह अपने मन के अनुकूल निज प्रिय वस्तु का त्याग करके गर्भिणी गर्भ का हित करती है उसी तरह हे कुरुश्रेष्ठ धर्म का अनुवर्तन करनेवाला राजाभी अपना जो प्रिय हो उसका त्यागही करके लोक का जो जो हित हो वह निःसंशय करे । "

पिता जिस में पुरुषार्थ तत्व प्रधान है, अपनी स्त्री तथा बच्चे दोनों की रक्षा सर्व आपत्तियों से करने में सामर्थ होता है। संसार रूपी गाड़ी के दो पहिये हैं, एक स्त्री दूसरा पुरुष, दोनों पहियों के बिना यह गाड़ी ठीक चल नहीं सकती । उर्दु आर्य्य मुसाफर मेगेज़ीन में एक लेख श्रीयुत राय ठाकुरदत्तजी का स्व० श्री वज़ीर चंदजी ने प्रकाशित किया था जिस में रायसाहेब ने उत्तमता से यह भाव दर्शाया है कि गृहस्थाश्रम कैसा पवित्र है, जहां परस्पर रक्षा और परोपकार कर्त्तव्य बन जाता है ।

विचार करने से प्रतीत होता है कि पुरुष शक्ति भी कठिन तपस्या के लिये है । जब एक धर्मात्मा युवा पुरुष का विवाह होता है तो उस के बल का उपयोग उस की स्त्री की रक्षा के

लिये होने लगता है। वह अपने से शारीरक बल में निर्बल व्यक्ति अथवा स्त्री से प्रेम करना और उस के सुख के लिये अपना तन मन धन व्यय करना अपना कर्त्तव्य समझता है। पशु जगत् में माता ही बच्चे की सब संभाल करती है, पर मनुष्य जगत् में बाप भी बच्चे की पूर्ण संभाल करता है। धर्मात्मा वीर पुरुष ही, अपने तथा देश के स्त्री बच्चों की रक्षा के लिये रणसंग्राम में प्राण तक दे देते हैं। बूढ़े, निर्बल मांबाप तथा सगे संबंधियों की रक्षा तथा सेवा, धर्मात्मा युवा पुरुष तथा स्त्री जो करते हैं वह जगत् में कौन नहीं जानता ?

डारविन मतका जो यह कथन है कि बलवान् के लिये ही जीवन है, वह पशु जगत् के लिये ही है। पशुओंके गुण कर्म को मनुष्य अपना आदर्श नहीं बना सकते। जहां तक जिस अंशमें लाठी भैंस की नीति का प्रचार है, वहां ही मनुष्य समाज में अशान्ति तथा चिन्ता है। पश्चिम के सभ्य जगत् व्यवहार द्वारा डारविन के लाठी भैंस के मत का कई प्रकार से खंडन कर रहे हैं। यथा राष्ट्रीयता जो कि एक मात्र पश्चिमी देशों का मंत्र है, वह वास्तव में एक देश विशेष के निवासियों में प्रेम, परस्पर रक्षा और परोपकार का संचार करता है। एक इंगलैंड वाले के लिए इंगलैंड वासी देव समान रक्षणीय हैं। कोई इंगलैंड भक्त कभी इंगलिश प्रजा में लाठी भैंस की नीति का व्यवहार द्वारा प्रचार नहीं कर सकता। इंगलिश बच्चा माँ के दूध के साथ देश सेवा के भाव मन में धारण करता है। उस के देश में क्या निर्बल, निर्धन मनुष्य नहीं हैं ? फिर देशसेवा, जातिसेवा, परोपकार वा प्रेम का दूसरा नाम नहीं तो क्या है ? यह राष्ट्रीयता वा देशसेवा के भाव और कर्म सचमुच व्यवहार द्वारा

लाठी भैंस की नीति को मनुष्योन्नति के लिए निरर्थक बता रहे हैं। युरोप के सब स्कूलों में मनुष्यमात्र के साथ उपकार करने का शिक्षण वर्षों विद्यार्थी रीडरों में पढ़ते हैं, जो उक्त क्रूर मत का खंडन नहीं तो क्या है? मैट्रिक तक तो सब यही उत्तम रीडरें भूगोल भर में पढ़ते हैं।

महाशय ड्रमंड के लेख का भाव जो उस ने अपनी पुस्तक में अनेक स्थलों पर दर्शाया है, यह है कि सृष्टि में दो शक्तिएं हैं। एक कठोर शक्ति दूसरी कोमल वा प्रेममय शक्ति। एक को पुरुष दूसरी को स्त्री हमारे आर्य्य शास्त्र कहते हैं।

"स्तन केशवति स्त्री"।

महाभाष्य के इस प्रमाण के अनुसार कोमलपन की बोधक स्त्री है और कठोर पन का बोधक पुरुष। पुराने ऋषियों ने इन दो शक्तियों को यहां तक अनुभव किया था, कि जो शब्द बोलने में कठोर हों वह पुलिङ्ग और जो कोमल हों, वह स्त्रिलिंग वाची संस्कृत में कहे गए। डारविन महोदय ने जीवन रक्षा के लिए दृढ़ वा कठोर पुरुषार्थ का मानो एक नियम अनुभव किया।

ड्रमंड महोदय ने इस का नाम "पिता" रखा और प्रेम प्रधान शक्ति को ड्रमंड "माता" कह रहा है। आर्य्य ऋषि पुरुष, स्त्री अथवा पुरुषार्थ और प्रेम वाचक दोनों शक्तियों को पूर्ण रूप से अनुभव कर चुके थे। आज युरुप के विद्वान् उनही तत्त्वों को अनुभव करने लगे हैं। युरुप मंडल में, ड्रमंड ने जो प्रेम मय स्त्री शक्ति का उपदेश दिया, वह वास्तव में डारविन मत की एक न्यूनता को पूर्ण करने वाला है।

महर्षि गौतम ने न्याय दर्शन में "समान प्रसवात्मिका जातिः" अर्थात् समान (प्रसवपना है जिन का) वा उत्पत्ति जिन की समान है उन की जाति होती है यह कहा है इस का भावार्थ यह है कि जो व्यक्तिएं मिलकर परस्पर समान सन्तति उत्पन्न कर सकती हैं उन्हीं की जाति होती है। युरुप में इस गूढ़ लक्षण का प्रचार न होने से डारविन महोदय ने जो ग़लती खाई और उस के अनुयायी ग़लती कर रहे हैं वह उन के पुस्तकों के पाठ करने से ही प्रतीत हो सकती है।

गर्भ की अवस्था में, मनुष्य का गर्भ सूक्ष्म दर्शक यंत्र से देखे जाने वाले जिन रूपों को धारण करता है वह प्रायः आश्चर्यकारक होते हैं। कहा जाता है कि गर्भ की अवस्थाएं, मछली मेंडक सर्प और पशु के आकार से मिलती हैं। एक पुस्तक में लिखा है कि " मनुष्य के गर्भ का आकार एक अवस्था में कीड़ों का सा होता है लेकिन कीड़े का सिर कीड़े की गर्दन पीठ कमर या अङ्ग नहीं होते। एक साधारण गोल मटोल विना सिर धड़ होता है।"× सूक्ष्म दर्शक यंत्र से गर्भ के स्वरूप का ठीक ठीक निश्चय नहीं हो सकता। आज कल कहा जाता है कि कोयला, और Graphite ग्रफाईट यह तीनों रसायनिक दृष्टि से अङ्गारक (Carbon) का ही स्वरूप हैं, और विना कारबन के और कोई वस्तु उन के अन्दर नहीं यह भी कहते हैं। किन्तु आखों से तीनों के स्वरूप भिन्न भिन्न ही प्रतीत होते हैं प्रत्युत उन के गुण भी परीक्षण द्वारा भिन्न भिन्न ही ठहरते हैं जैसा कि हीरा खाने से एक मनुष्य मर सकता है कोयला व Graphite (ग्रफाईट) से नहीं।

जिस प्रकार अति उत्तम यंत्रों के अभाव में हीरा कोयला को

× The Ascent of Man. by Henry Drummond.

एक ही पदार्थ मानना पड़ता है उसी प्रकार अति उत्तम यंत्रों के अभाव में गर्भ के गोल मटोल आकार को कीड़ा समझ लेना पड़ता है, पर वास्तव में वह ऐसा नहीं होता। यदि होता तो उस के अङ्ग बनने से क्यों रह जाते है ? क्या गुलाब की कलम यदि वास्तव में गुलाब है वह लगाने से गुलाब का पत्ता पैदा नहीं करेगी ? आवश्य करेगी। इसी प्रकार यदि पूर्ण कीड़ा बनकर दूसरे प्राणी का पूर्ण आकार धारण करना हो, तो हम देखते, कि पूर्ण कीड़ा बना है और दूसरा प्राणी भी। न ही पूर्णरूप से कीड़ा बनता है न ही पूर्णरूप से मछली और न ही वह कोई और प्राणी का आकार। लम्बे से लोथड़े को मनमें कीड़े का विचार होने से हम कीड़ा कह बैठते हैं। यह गर्भ अवस्था का वर्णन बहुत भ्रान्तिजनक है, स्वयम् जो इन बातों को लिख रहे हैं वह आप सन्देह कोटि में हैं। लीजिए वही ग्रन्थकर्त्ता आगे चलकर इसी अध्याय में लिखता है किः— " Science at present has no rationale of the process adequate to explain it " अर्थात् इस समय में सायन्स के पास कोई सतर्किक सन्तोषकारक विधि इसकी व्याख्या करने को नहीं है। (page 93) आगे चलकर अगले पृष्ठपर St. Mark (संतमार्क) के गिरजे के अलङ्कार से जो कि वीनस में है, यही बात लिखी है परन्तु यह लेखक तथा डारविनादि अन्य महोदय इसविषय में मानो यह समझते हैं कि सृष्टि की रचना एक मनुष्य ने करनी है जो कि ससीम अल्पज्ञ और परिमित साधनोंवाला है। इस वास्ते वह ऐसी क्लिष्ट कल्पनाएं करने को तैय्यार हो जाते हैं।

यदि वह सृष्टि का कर्त्ता अनन्त सर्वज्ञ ईश्वर अनुभव कर सकते तो ऐसा न लिखते, इसके लेखानुसार (देखो पृष्ठ ७९)

सूक्ष्मदर्शक यंत्र ही बड़ा आधार है और उस यंत्रद्वारा कुत्ते, हाथी सिंह और बतक के गर्भों के आदि स्वरूप में सादृश्य से यह अनुमान करता है कि मनुष्य का गर्भ मानो उन के गर्भ का विकार है। ऐसे भ्रम इन को क्यों होते हैं इसका एक मात्र कारण इनका सूक्ष्मदर्शक यंत्र है। देखिये ग्रन्थकर्त्ता महोदय इस विषय में स्वयं क्या लिखते हैं।

" It is one of the most astounding facts of modern Science that the first embryonic abodes of moss, and fern and pine, of Shark and crab and Coral polyps, of lizard, leopard, monkey and Man are so exactly similar that the highest powers of mind and microscope fail to trace the smallest distinction between them."

अर्थ—" वर्तमान पदार्थविज्ञान की यह बड़ी विचित्र बात है, कि काही, पर्ण, सनोवर, मछली, केंकड़ा, बहुभुजमूंगा, छिपकली, चीता, बन्दर और मनुष्य के गर्भ का आदिरूप, ऐसे भारे सदृश हैं कि मन तथा सूक्ष्म दर्शक यंत्र की बढ़िया शक्तिएं उन में थोड़ासा अन्तर भी प्रतीत कर सकने के असमर्थ हैं। "

युरुप वाले पण्डित सूक्ष्मदर्शक यंत्र के आधार से जो गवेषणा का काम कर रहे हैं, उस से पदार्थों के यथार्थ दर्शन को वह प्राप्त नहीं हो रहे। सूक्ष्मदर्शक यंत्र अद्भुत यंत्र है, यह और बात है, पर वह यंत्र सृष्टि के सब पदार्थों के यथार्थ रूप वा अवस्था को दर्शा सकता है यह बात ठीक नहीं। कारण कि कोई कुत्ता, गधा, घोड़ा, बन्दर कभी किसी कृत्रिम यंत्र को आंख से लगाकर अपने व्यवहारों को नहीं करता। उन की इन्द्रियां ही

उन को अद्भुत यंत्रों का काम दे रहीं हैं। गाय वा कुत्ते का आधी रात के अन्धकार के समय में अपनी इष्ट वा अनिष्ट वस्तु को जानना और मीलों (कोसों) तक उस के गंध के आधार पर चले जाना क्या आश्चर्यकारक नहीं है ? नया घोड़ा कभी किसी चिड़िया घर के बाग की सड़क पर जिस बाग में सिंह का बंदीगृह है नहीं जाता। उस को बाग के अन्दर आते ही सिंह की गंध आजाती है।

यह विचित्र बात है कि युरुप के अनेक पण्डित नेचरवादी (सृष्टि स्वभाववादी) बन रहे हैं, पर अपने कर्म से अपने आदर्श का खंडन कर रहे हैं, उन के मन में क्या कभी आया कि जो इन्द्रियां Nature (सृष्टि) देवी ने मनुष्य को दी हैं, यह क्या उस के समग्र व्यवहारों के लिये पर्य्याप्त नहीं हैं ? क्या इन इंद्रियों की विद्यमानता में मनुष्य के नेत्र की दर्शन शक्ति को किसी कृत्रिम यंत्र की आवश्यकता है ? युरुप के अनेक भारी विद्वान् मानते हैं कि मनुष्य की आंख की दर्शन शक्ति सृष्टि के पशुओं की आंखों से विलक्षण तथा उत्तम है, पर खेद का विषय है, कि यह कहते हुए भी वह इस मानवी आंख पर एक कांच का कृत्रिम टुकड़ा बांधकर ही सृष्टि के सूक्ष्म पदार्थों के यथार्थ दर्शन करने की चेष्टा में रात दिन लगे हुए हैं। यजुर्वेद के एक मंत्र† में बुद्धि, मन और पंचज्ञान इंद्रियों को सप्त ऋषि दर्शाया गया है। यही नहीं परंच वर्णन किया गया है कि यह सप्तऋषि शरीर के रक्षक हैं, जो विद्वान् ऋषि शब्द की महि-

† देखो यजुर्वेद अ० ३४ मं० ५५

सप्त ऋषिय प्रतिहिता: शरीरे सप्तरक्षन्ति...

मा समझते हैं वह अनुमान कर सकते हैं कि वेद मंत्र का बुद्धि, मन और पंच ज्ञान इन्द्रियों को ऋषि बतलाना अति उत्तम है। पशुओं की इंद्रियां तथा बुद्धि सचमुच उन के लिये ऋषि का काम देती हैं यह बात निर्विवाद है। मनुष्य अपनी स्वाभाविक दशा को भूल गया है, स्वाभाविक साधनों से काम लेना ही नहीं चाहता, इसको अपनी आंख की कीमत याद नहीं रही। यह अपनी Naked Eye (स्वतंत्र दृष्टि) से घबराता और शर्म खाता है। यह सभ्यता (उन्नति) नगरों की भरभार में समझ रहा है। स्वच्छ ग्रामों में स्वच्छ कुटियें बनाकर रहना वा बन में कुटिचर होना इस के कृत्रिम विचार में जंगलीपन है। जगत् विख्यात भारत कवि श्रीयुत रवेन्द्रनाथ ठाकुर ने " साधन " नामी सुप्रसिद्ध पुस्तक में इस कृत्रिम Civlization (सभ्यता) का जो नगरों के आधार पर होने से नेचर (सृष्टि) से दूर है क्या भाव पूर्ण और उत्तम खंडन किया है?

यह माना कि हमें रेल, तार, जहाज़ और विमान की ज़रुरत है पर इस का यह अर्थ नहीं कि हमें अपने हाथों, पगों, टांगों और नेत्रों तथा बुद्धि की कम ज़रुरत है, वा किसी दशा में हमें अपने नेत्र, टांगों और पगों को निकम्मा कर देना चाहिये। कदापि नहीं। जितनी ज़रुरत हमें रेल, तार, नौका, विमान की है उस से अधिक ज़रुरत हमें अपने नेत्रों, टांगों आदि की है। जिस प्रकार फौज में बलवान् घोड़ों की ज़रुरत है और उन घोड़ों पर चढ़ने वाले भी बलवान् मनुष्य सदैव तैय्यार किये जाते हैं। उसी प्रकार रेल तथा विमानादि यानों के होने पर भी हमें अपने नेत्रों, टांगों और हाथ से पूर्ण काम लेना ही चाहिए। जब एक इन्द्रिय किसी

पदार्थ के स्वरूप निर्णय में भ्रान्ति हो जाती है तो दूसरी इन्द्रियों की साक्षी वा बुद्धि के अनुमान द्वारा काम करना होता है। सफेद फिटकिरी, सफेद नमक, सफेद खांड तीनों पदार्थ श्वेत होने पर कुछ दूर से अनुभव रहित नेत्र को धोखा दे सकते हैं, पर दक्ष नेत्र धोखा नहीं खाते। यदि कोई अनुभव रहित नेत्र किसी कारण धोखा खाने लगे तो उस दशा में नेत्रों के भ्रम को मिटाने के लिये हमें और इन्द्रियों की, वा परीक्षण विशेष की सहायता लेनी होती है। ज़रा सी पिसी हुई फिटकिरी जिव्हा पर लगाने से पता लग जाता है कि यह क्या है। जिव्हा इन्द्रिय आस्वादन से निर्णय कर देती है कि वास्तव में फिटकिरी कौन है, नमक कौन और खांड कौन? अथवा यह कहो कि जब सप्त ऋषियों में से एक ऋषि सन्देह अवस्था में पड़ जाय तो अन्य ऋषि उस की सहायता कर के साथ का मार्ग पा लेते हैं। कभी ऐसा भी किया जाता है कि तीनों को पानी में पृथक् पृथक् घोल दिया जावे। उस दशा में फिटकिरी वाला जल, नमकीन जल और मीठा जल आस्वादन से बतलाया जा सकता है कि नमक किस बरतन में घुला हुआ है और खांड किस में?

खांड वाले पानी और नमक वाले पानी की विना चखे भी और तरह पर परीक्षा कर सकते हैं। एक बूंद एक पानी की शिला पर रखी जाए और दूसरी बूंद दूसरे पानी की तो कुछ देर में कीट (चींटी) जिस बूंद पर जमा हो जावें वह मिष्ट पदार्थ की बूंद समझनी चाहिए और जिस पर कीट भक्षण के लिये एकत्र न हों तो उस को अमिष्ट पदार्थ समझना होगा।

इत्यादि दृष्टान्तों का सार यह है कि हमें केवल सूक्ष्मदर्शक यंत्र के आधार पर ही नहीं रहना चाहिए। जिस प्रकार,

दृष्टि दो भिन्न भिन्न बरतनों के पानी में भेद नहीं बतला सकती, कि इन में मीठा किस में है, तो उस दशा में कीट द्वारा परीक्षण वा आस्वादन से जान सकते हैं। ठीक इसी प्रकार जब सूक्ष्मदर्शक यंत्र हमें कुत्ते, बन्दर और मनुष्य के गर्भ के आदि स्वरूप में कुछ भेद नहीं बतला रहा तो हमें कुत्ते, बन्दर और मनुष्य के गर्भ के अन्तिम स्वरूप वा उत्पत्ति के समय निश्चय करना होगा। बन्दरी के गर्भ से अन्तिम अवस्था में निश्चित बन्दर का बच्चा ही उत्पन्न होगा और कुत्तीके गर्भ से कुत्ता और मनुष्य के गर्भ से मनुष्य। यद्यपि सूक्ष्म-दर्शक यंत्ररूपी उपनेत्र दोनों गर्भों के आदि रूप को एक बतला रहा था, पर अन्तिम अवस्था ने निर्णय कर दिया कि प्रत्येक गर्भ आदि अवस्था में भी पृथक् होना चाहिये। जिस पानी में नमक है उसकी बूंद पर कभी कीट नहीं जमकर बैठेंगे। जो गर्भ बन्दर का है उसके बच्चे का शिर और कंठ कभी मनुष्य के बच्चे जैसा नहीं हो सकता। बन्दर कितना अनुकरण करनेवाला है, पर कभी बन्दर आज तक मनुष्य समान भाषा बोल सका? क्या कभी किसी बन्दर ने आग में भोजन पकाने की नकल की? दोनों प्रश्नों का यही उत्तर है कि नहीं। और कर भी कैसे सके, जब कि उस के कंठस्थल (Larynx) और दिमाग में भेद है। क्या कभी कोई जवान मनुष्य बन्दरी को देखकर उस के प्रेम में आसक्त हो उस से विवाह करने पर तैय्यार हुआ? क्या कभी कोई बन्दरी किसी मनुष्य से विवाह करनेपर तैय्यार हुई? यदि बन्दर के आदिगर्भ और मनुष्य के आदि गर्भ में कुछ भेद न होता, तो उन की अन्तिम दशा में भेद कहां से हो गया? यदि बन्दर और मनुष्य की सन्तान एकसी है तो उन में स्वाभाविक तौर पर तीन बातें समान देखने में आतीं

(१) भाषा

(२) विचार द्वारा कर्म वा व्यवहार

(३) परस्पर विवाह

जिस प्रकार अन्धकार में रस्सी सर्प प्रतीत होती है, उसी प्रकार सूक्ष्मदर्शक यंत्र की अयोग्यता से सर्व पशुओं के आदि गर्भ समान प्रतीत होते हैं। यदि वास्तव में समान होते तो उन की अन्तिम प्रत्यक्ष दशा भी समान होती। सूक्ष्मदर्शक यंत्र, अभी और सूक्ष्म बनना चाहिए ताकि भिन्न भिन्न पशुओं के आदि गर्भों में भेद दिखा सके।

युरुप का रसायन शास्त्र कहता रहे कि कोयले और हीरे का वास्तविक स्वरूप एक है। पर रसायन शास्त्र की भूल का खंडन संसार अपने कर्त्तव्य द्वारा कर रहा है। जोहरी हीरा बेचने वाले मालामाल हो रहे हैं और कोयला बेचने वाले कभी उतने धनी नहीं हो सकते। एक तोला हीरा हजारों रुपैयों का है और एक तोला कोयला एक फूटे बादामका। हीरा खाने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है और कोयला खाने से नहीं। कोयला प्रकाश रहित है और हीरा प्रकाश युक्त। इतने भेद होने पर भी, युरुप के रसायन शास्त्री यदि यही कहते जावें कि रसायन दृष्टि से दोनों एक ही पदार्थ हैं तो निश्चय समझलो कि यह रसायन दृष्टि अभी भ्रान्त है, अपूर्ण है और विश्वास योग्य नहीं।

जब आंख रूपी स्वाभाविक यंत्र भ्रान्त हो सकता है तो सूक्ष्मदर्शक यंत्र निर्भ्रान्त रहे, यह कैसे? नेत्र रूपी अद्भुत स्वाभाविक यंत्र, जिसकी रचना का अनुकरण करने से ही प्रतिबिंब धारक

यंत्र Photographic Camera बना है, वह नेत्र, पदार्थ का यथार्थ स्वरूप दिखाने में धोखा खा जाता है। जैसा कि सूर्य्य का पूर्व से पश्चिम जाना यह नेत्र दर्शाता है, पर बुद्धि रूपी महर्षि इस धोखे से मन को बचाता है। रेलमें बैठे हुए वृक्ष भागते हुए नेत्र को प्रतीत होते हैं पर बुद्धि नेत्र की इस भ्रान्ति को दूर कर के यथार्थ ज्ञान को देती है। नेत्र का गलती खाना सब युरुप के विद्वान् अनुभव कर चुके हैं पर मनुष्य के बनाए हुए कांच के टुकड़े (सूक्ष्मदर्शक यंत्र) क्या नेत्र समान हमें धोखा नहीं दे रहा, यह बात युरुप के पण्डितों के मन में न जाने क्यों नहीं आई?

यदि सूक्ष्मदर्शक यंत्र वा रसायन दृष्टि की भूलों से हम बचना चाहते हैं तो हमें बुद्धि रूपी महर्षि की सहायता लेनी होगी, जो महर्षि अनुमान प्रमाण द्वारा निश्चय करा देगा कि किसी पदार्थ के अन्तिम स्वरूप में स्थिर भेद रहे तो उन पदार्थों का आदि स्वरूप कभी पूर्ण रूप से समान नहीं हो सकता।

कारण गुण पूर्वकः कार्य गुणो दृष्टः।

वैशेषिक अ० २ आ० १ सू० २४।

अर्थः—कार्य में वही गुण होते हैं जो उस के कारण में हों।

यदि यह माना भी जाय कि कारण (गर्भ के आदि स्वरूप) में समानताथी तो गर्भ का अन्तिमस्वरूप जो उत्पन्न हुआ बच्चा है, वह सब की आकृति एक सी क्यों नहीं होती? इसलिये सिद्ध होता है कि गर्भ का आदि स्वरूप भी अवश्य भिन्न था, यदि ऐसा न माना जाय तो फिर अभाव से भाव का होना मानना पड़ेगा जिस के मानने के लिये युरुप का सायंस भी तय्यार नहीं।

एक पुरुष नकली रेशम के कपड़े को असली रेशम का कपड़ा कहकर बेचना चाहता है। साधारण दृष्टि से दोनों एकही प्रतीत होते हैं, पर एक की तार को जलाते हैं, तो आग में बराबर जल जाती है दूसरे कपड़े की तार में आग लगते ही बुझ जाती है। यदि दृष्टि पर विश्वास करलें तो सूत को रेशम के भाव खरीद लें, पर नहीं जब बुद्धिपूर्वक परीक्षा में एक बराबर जलता है दूसरा नहीं, तो जो बराबर जलता है उसको सूती समझना चाहिए। यही नहीं, पर निश्चय जानना चाहिए कि सूती कपड़े के ताने बाने में सूत ही है अर्थात् एक के मूल में सूत है दूसरे के मूल में रेशम। इसी प्रकार जब कुत्ते का बचा

(क) बन्दर के बच्चे की सी बोली

(ख) बन्दर के बच्चे केसे कर्म वृक्ष पर कूदना आदि

(ग) बन्दर के साथ विवाह

नहीं कर सकता, तो निश्चय जानिए कि बन्दरी और कुत्ती के गर्भ की **आदि अवस्था** में ज़रुर ही भेद था। यदि न होता तो अन्तिम दशा में यह तीन भेद कहां से आते। यदि रुई और रेशम की आदि अवस्था में भेद न होता तो कपड़ा बनने पर जो कि अन्तिम अवस्था है भेद न पाया जाता। क्यूं एक का कपड़ा अच्छी प्रकार जलता है और दूसरे का नहीं? यदि दो बीज सर्वथा एक से हैं तो उन की अन्तिम दशा (फल) भी एक से होंगे। क्या हम रोज़ नहीं देखते, कि क्षेत्र में गेहुं के बीज बोने से जो कि सब ही आदि अवस्था में **समान** हैं, उन की अन्तिम फल रूपी अवस्था समान ही होती है।

रेशम और सूत के आदि स्वरूप को यदि किसीने न देखा हो, तो इन के अन्तिम स्वरूप के परीक्षण से वह निश्चयात्मिक

अनुमान कर सकता है, कि उन की आदि अवस्था में भी भेद था। पशुओं के विद्यमान बच्चों को देखने से, जो उन उन पशुओं के आदि गर्भ की अन्तिम अवस्था हैं, एक मनुष्य समझ सकता है, कि यह मुख्य कर के तीनों बातों में इतना भेद रखते हैं, अर्थात् न ही उन के बच्चे समान हैं और न ही उन के गर्भों की आदि अवस्था समान हो सकती है और न ही यह भविष्य में एक होंगे। वह तीन मुख्य परीक्षाएं हमने—

१ बोली
२ व्यवहार (कर्म)
३ विवाह वा सन्तान उत्पत्ति की बतलाई।

बोलने के मुख्य साधन जिह्वा, और कंठ हैं। हाथ पग आदि अंग उपाङ्ग द्वारा पशु कर्म वा चेष्टा करते हैं। सन्तान उत्पत्ति कर्मेन्द्रिय विशेषसे पशुआदि करते हैं। इन तीनों बातों का आधार शरीर है। शरीर में ही जिह्वा, कंठ होते हैं, दिमाग़ भी शरीर का अंग है। हाथ पग जंघा आदि सब शरीर के अंग हैं। सन्तानोत्पत्ति जिन इन्द्रियों द्वारा होती है वह भी शरीर के आधार पर हैं। महर्षि गौतम ने सच कहा है कि

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्।

न्यायदर्शन, प्रथम अध्याय सू० ११।

अर्थ—क्रिया, इन्द्रियों और अर्थ, इन के आश्रय को शरीर कहते हैं।

जब हम कहें कि पशुओं के शरीर भिन्न भिन्न हैं तो इस से यह भी सिद्ध हो सकता है कि उन शरीरों की चेष्टा जैसे कि **बोलना, मैथुन, कूदना दौड़ना आदि** और इन्द्रियज्ञानादि में भेद है।

एक शरीरधारी को व्यक्ति कहा करते हैं और व्यक्ति के समष्टि शरीर को आकृति कहने में आता है। व्यक्तियों के समूह को जाति कहते हैं। तत्त्व विवेचन रूपसे व्यक्ति, आकृति और जाति का जो अति उत्तम लक्षण महर्षि गौतम ने किया है वह लिखकर उस की व्याख्या करना उचित प्रतीत होता है।

व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रय मूर्त्तिः।

न्यायदर्शन २।२।९६

अर्थ—जिसमें गुणविशेष (गुरुत्त्व, कठिनत्त्व, द्रवत्त्व आदि) हों, ऐसे मूर्त्तिमान् को व्यक्ति कहते हैं।

आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या॥

[न्याय० २-२-७०]

अर्थ—जिससे जाति और जाति के चिन्ह प्रकट हों, उस को आकृति कहते हैं। [व्यक्ति और उस के अंगों की रचना विशेष जाति का चिन्ह आकृति हुई].

समान प्रसवात्मिका जातिः

न्याय० २।२।७१।

अर्थ—"जिससे समान प्रसवपना पाया जाता है वह जाति है॥*"

व्याख्या—व्यक्ति द्रव्य है और आकृतिगुण। प्रत्येक व्यक्ति में एक प्रकार की आकृति रहती है। उस से उस की जाति का बोधन भी होता है आकृति की समता जाति का लक्षण है। ।जिन की उत्पत्ति द्वारा बनावट एक जैसी हो वह जाति है और वह आकृति और उत्पत्ति द्वारा बनावट की समता से जानी जाती है।

---

* देखिये सामवेद भाष्यकार विद्वद्वर्य पंडित तुलसीराम स्वामी कृतभाष्य,

उक्त सूत्र में जाति का क्या उत्तम तथा सारगर्भित लक्षण महर्षि गौतमजी ने किया है। संस्कृत में जाति शब्द जन धातु से बनता है जिस के अर्थ उत्पन्न करने के हैं। जाति शब्द समूह तथा उत्पत्ति के भाव को सदैव लिये हुए रहता है। जो व्यक्तिएं अपने समान सन्तति को उत्पन्न कर सकती हैं उन की जाति होती है। Like begets like यह अंगरेज़ी का कथन इसी भाव का बोधक है।

अफरीका का एक हबशी गुजरात के एक ग्राम में हमने एक दिन देखा। यह हिंदुस्तानी भाषामें बातचीत करता है, इस का विवाह गुजरात की एक मुसलमान लड़की से हुआ है जिस प्रकार हिंदु मुसलमान व्यवहार करते हैं उस प्रकार इस के व्यवहार हैं। प्रसिद्ध सुधारक बुकर टी. वाशिंग्टन की माता हबशन थी पिता गोरे थे। हबशनों के साथ युरुपवालों के विवाह होते हैं। चीन के युद्ध में युरुप के लोगों ने चीनी स्त्रियों से विवाह किये। ब्रह्मदेश में अनेक युरोपिअनों के विवाह वहां की ब्रह्मी लड़कियों से हुए। कई हिन्दोस्तानी युरोपिअन लड़किएं विवाह लाये। कई युरुपवालों ने हिन्दोस्तानी लड़कियों से विवाह किये। यदि हिन्दोस्तानी लोग अंगरेज़ी भाषा सीख सकते हैं तो अनेक अंगरेज़ों ने हिन्दोस्तानी भाषा सीखी है। पूज्य महारानी श्रीमती साम्राज्ञी विक्टोरिया देवी ने हिन्दोस्तानी भाषा सीखी थी। इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि भूगोल पर जो नाना प्रकार के मनुष्य नाना देशों में वसते हैं उन सब का विवाह परस्पर हो सकता है, उन की सन्तान सदैव मनुष्य ही उत्पन्न होगी और कुछ नहीं। वह एक दूसरे की भाषा सीख सकते हैं। वह एक दूसरे के साथ मिलकर विवाह कर सकते अर्थात् सन्तान समान उत्पन्न कर सकते हैं।

कवियों पर यह दोष लगाया जाता है कि वह अत्युक्ति किया करते हैं और इस लिये उन के वचन विज्ञान दृष्टि से ठीक नहीं कहे जा सकते। यही दोष सूक्ष्मदर्शक यंत्र का व्यवहार करने वालों पर लग सकता है। यदि हम अपने नाखून को सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखें तो वह हम को अंडे जैसा विलक्षण प्रतीत होता है। यदि कोई हम को कहे कि तुम्हारे नाखून मुर्गी के अंडे जितने हैं तो सुनने वाले सब हंस उठेंगे कि कहने वाला क्या गप तो नहीं हांक रहा ? कभी कोई मनुष्य अपने नाखून का यथार्थ स्वरूप मुर्गी के अंडे जितना नहीं समझेगा। कई प्रकार के हलबी *शीशे मनुष्य के स्वरूप को बड़ा दिखाते हैं और कभी कभी एक दुबला पतला आदमी राममूर्ति वा कीकरसिंह अथवा गुलाम पहलवान नज़र आता है तो इन शीशों के बताए हुए स्वरूप को हम किसी वस्तु का वास्तविक स्वरूप नहीं कह सकते। और जो त्रसरेणु, गतिशील होने से वायु मंडल में उड़ा करते हैं वह निर्जीव होते हुए सजीव से प्रतीत होने लगते हैं। यथार्थ मानवी व्यवहार के लिए हम इन यंत्रों पर पूर्ण विश्वास नहीं कर सकते और न ही यह यंत्र सुलभ हैं जिस से प्रत्येक मनुष्य उपयोग कर के निश्चय कर सके। गर्भ में जब सूक्ष्म दशा में अंग प्रत्यङ्ग ऐसे रक्खे हुए, सूक्ष्मदर्शक यंत्र से मालूम होते हैं तो मेंडक के आकार की भ्रान्ति सहज में हो जाती है और जब गर्भ की आदि अवस्था को एक लोथड़ा सा अनुभव करते हैं तो उस को कीड़ा समझते हैं कारण कि यह लोथड़ा नालिकाकार होता है। वास्तव में वह कीड़ा तो नहीं बना और यदि कीड़ा मछली वा मेंडक सचमुच बनता है तो कीड़े को

---

* एशियाई टर्की का एक नगर हल्ब है Concave mirror का नाम हल्बी शीशा है।

जिस दर्जे की उष्णता चाहिये वह मानवी गर्भाशय में नहीं, मछली को जिस प्रकारकी कम उष्णता चाहिये वह भी वहां नहीं है इस-लिये यह कल्पना कि गर्भ सचमुच कीड़ा मछली वा मेंडक ही बन जाता है, ठीक नहीं हो सकती ।

हम देखते हैं कि सूर्य पूर्व से चलकर पश्चिम को आता है पर सर्व बुद्धिमान् यही कहते हैं कि सूर्य इस यात्रा को नहीं करता जो कि हम प्रतिदिन आंखों से देखते हैं । यह चक्षु भ्रान्ति केवल बुद्धिपूर्वक मनन विशेष से दूर की जाती है और मनन से निश्चय होता है कि सूर्य अपनी कीलीपर ही गति कर रहा है और भूमि की परिक्रमा नहीं करता । ठीक इसी प्रकार जब गर्भ का अन्तिम स्वरूप सर्व पशु प्राणियों का भिन्न भिन्न है तो उन के गर्भ गत आदि स्वरूप को सर्वथा समान समझना मानो सूक्ष्मदर्शक यंत्र को

Infallible

अर्थात् निर्भ्रान्त मानना है । युरुप के नास्तिक लोग किसी पुस्तक वा मनुष्य को कहीं पर निर्भ्रान्त नहीं मानते, परंतु सूक्ष्मदर्शक यंत्र मानो व्यवहार से निर्भ्रान्त मान रहे हैं । नेत्रादि स्वाभाविक साधन भ्रान्ति कर सकते हैं पर यदि कोई निर्भ्रान्त है तो सूक्ष्मदर्शक यंत्र। हम पूछते हैं कि क्या कोई सूक्ष्मदर्शक यंत्र वायु के दर्शन करा सकता है ? जो पदार्थ तेज के आधार से देखे जा सकते हैं उन्हीं में इस यंत्र की गति है । अंधेरे में सूक्ष्मदर्शक यंत्र स्वयं अदर्शक है इस लिए हमें एक मात्र अपनी बुद्धि को जो कि वायु, आकाश, काल, मन, आत्मा और परमात्मा तक को जान सकती है, इन अतीव सूक्ष्म पदार्थों को कोई सूक्ष्मदर्शक यंत्र नहीं जान सकता, तो बुद्धि की उस शक्ति को जो योगाभ्यास से दिव्य

दृष्टि दिव्य श्रोत्र धारण कर सकती है, बढ़ाना चाहिये। सूक्ष्म दर्शक यंत्र प्रत्येक मनुष्य मोल नहीं ले सकता कारण कि यह सुलभ नहीं, परन्तु इस से भी बढ़ कर अतीव सूक्ष्मदर्शक जो बुद्धि है, वह जगदीश्वरने सब मनुष्य मात्र को मुफ्त प्रदान कर रक्खी है, इस बुद्धि की गति वहां पर भी है जहां पर सूक्ष्मदर्शक यंत्र की गति हो ही नहीं सकती। इसी लिए पुराने भारत के ऋषियोंने योग दृष्टि सम्पादन करने के लिये अपूर्व तपस्या की थी। आज युरुप के मान्यवन्त वीर योद्धा अपने प्राण तक देते हुए मनुष्यरक्षा के लिए उद्यत हैं। हम्बोल्ट, हक्सले आदि महानुभाव नैष्ठिक ब्रह्मचारी रह कर तपस्वी बन विद्यावृद्धि के लिए जीवन अर्पित कर चुके, परन्तु इन में से किसी भी युरुप के महा विद्वान् को पूर्ण योगदृष्टि का धन प्राप्त नहीं हुआ।

भारत के तपोधन ऋषियों ने क्या क्या कुछ सिद्धियां विज्ञान में प्राप्त नहीं कीं? अणिमा सिद्धि क्या है? यह वह दिव्य दृष्टि है जिस के द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ अपने यथार्थ स्वरूप में जाने जाते हैं। चरक सुश्रुत के कर्त्ता योगी ऋषि महर्षि गर्भ के आदि स्वरूप का यथार्थ दर्शन कर सके उन्होंनें जो गर्भ की सब अवस्थाओं का वर्णन किया है उस से पता लगता है कि उन को यह भ्रान्ति नहीं हुई जो आज डारविन और हेकल को हो रही है।

सब ऋषि महर्षि सर्व सम्मतिसे अपने शास्त्रों में इस योग दृष्टि तथा परम प्रमाण वेद के आधार से लिख गए कि आदि सृष्टि मे भिन्न भिन्न जातियां उत्पन्न हुईं और अब भिन्न भिन्न हैं। और उन में से एक योगिराज महर्षि गौतम ने तो जाति का लक्षण करते हुए निर्णय कर दिया कि जो समान सन्तान उत्पत्ति कर सकते हैं

उनकी ही जाति होती है । योगिराज गौतम के इस सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिये सृष्टि दृष्टान्त का काम दे रही है। दो भिन्न जातियां प्रथम् तो कभी आपस में मिलकर सन्तान उत्पत्ति नहीं करतीं और यदि कहीं कोई मनुष्य दो जातियों को मिलाकर उनसे सन्तान उत्पन्न कराता है, वह आगे " **समान प्रसवात्मिका** " अर्थात् अपनी जैसी सन्तान उत्पन्न करने को समर्थ नहीं होतीं वा यूं कहो कि अस्वाभाविक समागम का फल यह होता है कि आगे को वह व्यक्तिएं जो उत्पन्न हुई हैं, निर्वंश हो जायं, और जाति ही नष्ट हो जाय ।

Ascent of Man (एसन्ट ऑफ मॅन) के कर्त्ता के इस मत का जो कि डारविन महोदय का ही मत है Encyclopaedia Britannica (विश्वकोश) के निम्नलिखित उद्धृत वाक्यों से जो गर्भ अवस्था संबन्धी हैं, भली प्रकार उत्तम खंडन हो रहा है। दो चार वाक्यों का भावार्थ इसी लेखमें से यहां पर लिखदेना अनुचित न होगा ।

यदि वह ठीक होता तो हम आशा करते, कि निकटवर्ती जातियों के गर्भ परखे न जाते, लेकिन यह बात नहीं है, इस के विपरीत वह प्रायः जवानों की अपेक्षा अधिक विषम होते हैं, जिस कथन की पुष्टि में, पेरिपेटस (सुंडीकीट) की भिन्न भिन्न जातियों के, गर्भों का वर्णन कर सकते हैं.........उक्त कथन किसी तरह पर भी ठीक नहीं, सर्वथा स्थूल दृष्टि से युक्त है, और अङ्ग प्रत्यङ्ग की परिगणना तक नहीं पहुंचता....गर्भ के अङ्ग अपने वीर्य के अनुसार विशेष अथवा स्थिर आकृति वाले होते हैं, यह बात प्रगट

है और इस बात से भली प्रकार सिद्ध होती है कि गर्भ के भिन्न भिन्न भाग एक ही रसायनिक अथवा परीक्षात्मक साधनों पर भिन्न भिन्न प्रभाव दर्शाते हैं ”

Encyclopœdia Britannica 11th Edition Vol IX.

“ Here it undergoes the most diverse fate, even in members of the same group. For instance, in *Peripatus capensis* it extends as a slit along the ventral surface, which closes up in the middle, but remains open at the two ends as the permanent mouth and anus.............*Here no one would doubt the homology of the mouth and anus throughout the groups; yet within the limits of a single genus-Peripatus-they show the most diverse modes of development.* (Page 319)

In certain animals it develops by the direct modification of a part of the primitive enteron, while in others it arises by the gradual shaping of a mass of tissue which consists of a compact mass of nuclei derived by nuclear proliferation from one or more of the pre-existing tissues of the body. (Page 321)

The interest attaching to these remarkable facts is much increased by the explanation which has been given of them. That explanation, which is a deduction from the theory of evolution, is to the effect that the peculiar embryonic structures and relations just mentioned *are due to the retention by the embryo of features which, once possessed by the adult ancestor have been lost in the course of evolution. This expla-*

nation, which at once suggests itself when we are dealing with structures actually present in adult members of other groups, *does not so obviously apply to those features* which are found in no adult animal whatsoever. Nevertheless it has been extended to them, because they are of a nature which it is not impossible to suppose might have existed in a working animal. *Now this explanation, which, it will be observed can only be entertained on the assumption that the evolution theory is true, has been still farther extended by embryologists in a remarkable and frequently unjustifiable manner,* and has been applied to all embryonic processes, finally *leading to the so-called recapitulation theory,* which asserts that embryonic history is a shortened recapitulation of ancestral history, or, to use the language of modern zoology, that the *Ontogeny* or development of the individual contains an abbreviated record of the *phylogeny* or development of the race. A theory so important and far-reaching as this requires very careful examination. When we come to look for the facts upon which it is based, *we find that they are non-existent, for the ancestors of all living animals are dead and we have no means of knowing what they were like.* It is true there are fossil remains of animals which have lived, *but these are so imperfect as to be practically useless for the present requirements.* Moreover, if they were perfectly preserved *there would be no evidence to show that they were ancestors of the animals now living. They might have been animals which have become extinct and left no descendants.* Thus the explana-

tion ordinarily given of the embryonic structures referred to is *purely a deduction* from the evolution theory. Indeed, *it is even less than this* for all that can be said is something of this kind: *if the evolution theory is true, then it is conceivable that the reason why the embryo of a bird passes through a* stage in which its pharynx presents some resemblance to *that of a fish* is that a remote ancestor of the bird possessed a pharynx with lateral apertures such as are at present found in fishes.

But the explanation is sometimes pushed even further, and it is said that these pharyngeal apertures of the ancestral bird had the same respiratory function as the corresponding structures in modern fishes. *That this is going too far a little reflection will show. For if it be admitted that all so called vestigial structures had once the same function as the homologous structures when fully developed in other animals; it becomes necessary to admit that male mammals must once have had fully developed mammary glands and suckled the young, that female mammals formerly were provided with a functional penis*, and that in species in which the females have a trace of the secondary sexual characters of the male, the latter were once common to both sexes. The second and more extended form of the explanation plainly introduces a considerable amount of contentious matter, and it will be advisable, in the first instance, at any rate, to confine ourselves to a critical examination of the less ambitious conception. *This explanation obviously implies the view*

that in the course of evolution the tendency has been for structures to persist in the embryo after they have been lost in the adult. Is there any justification for this view ? It is clearly impossible to get any direct evidence, because, as explained above, we have no knowledge of the ancestors of living animals; but if we assume the evolution theory to be true, there is a certain amount of indirect evidence which is distinctly *opposed to the view.* As is well known, *living birds are without teeth,* but it is *generally assumed that their edentulous condition has been comparatively recently acquired, and that they are descended from animals which, at a time not very remote from the present, possessed teeth.* Considering the resemblance of birds to other terrestrial vertebrates, and the fact that extinct birds, not greatly differing from birds now living, are known to have had teeth, it must be allowed that there is some warrant for the assumption. *Yet in no single case has it been certainly shown that any trace of teeth has been developed in the embryo.* The same remark applies to a large number of similar cases; for instance, the *reduced digits of the bird's hand and foot and the limbs of snakes.* (Page 322)

It therefore becomes necessary to inquire why in some cases an organ is retained by the embryo after its loss by the adult, whereas in other cases it dwindles and presumably disappears simultaneously in the embryo and the adult. The whole question is examined and discussed by the present writer in the

Quarterly Journal of Microscopical science, XXXVI 1894, p. 35, and the conclusions there reached are as follows:-*A disappearing adult organ is not retained in a relatively greater development by an organism in the earlier stages of its individual growth unless it is of functional importance to the young form.* In cases in which the whole development is embryonic this rarely happens, because the conditions of embryonic life are *so different from free life* that *functional embryonic organs are usually organs sui generis*, e. g. the placenta, amnion, &c , *which cannot be traced to a modification of organs previously present in the adult.* It does, however, appear to have happened sometimes, and as an instance of it may be mentioned the *ductus arteriosus* of the Sauropsidan and Mammalian embryo. On the other hand, when there is a considerable period of larval life, it does appear that there is a strong case for thinking that organs which have been lost by the adult may be retained and made use of by the larva. The best known example that can be given of this is the tadpole of the frog. Here we find organs, viz. gills and gill slits, which are universally regarded as having been attributes of all terrestrial vertebrata in an earlier and aquatic condition, and we also notice that their retention is due to their being useful on account of the supposed ancient conditions of life having been retained. Many other instances, more or less plausible; of a like retention of ancestral features by larvae might be mentioned, and it must be conceded that there are. strong reasons for sup-

posing that larvae often retain traces, more or less complete, of ancestral stages of structure. *But this admission does not carry with it any obligation to accept the widely prevalent view that larval history can in any way be regarded as a recapitulation of ancestral history. Far from it for larvae in retaining some ancestral features are in no way different from adults*; they only differ from adults in the features which they have retained. Both larvae and adults retain ancestral features, and both have been modified by an adaptation to their respective conditions of life which has ever been becoming more perfect.

The conclusion, then, has been reached, that whereas larvae frequently retain traces of ancestral stages of adult structure, *embryos will rarely do so*; and we are confronted again with the question, how are we to account for the presence in the embryo of *numerous functionless organs* which cannot be explained otherwise than as having been inherited from a previous condition in which they were functional ? The answer is that the only organs of this kind which have been retained are organs which have been retained by the larvae of the ancestors after they have been lost by the adult, and have become in this way impressed upon the development. As an illustration taken from current natural history of the manner in which larval characters are in actual process of becoming embryonic may be mentioned the case of the viviparous salamander (Salamander altra) in which the gills, &c., are all developed but never

used, the animal being born without them. In other and closely allied species of salamander there is a considerable period of larval life in which the gills and gill slits are functional, but in this species the larval stage, for the existence of which there was a distinct reason, viz the entirely aquatic habits of life in the young state, has become at one stroke embryonic by its simple absorption into the embryonic period. *The view, then, that embryonic development is essentially a recapitulation of ancestral history must be given up*; it contains only a few references to ancestral history, namely, those which have been preserved probably in a much modified form by previous larvae.

We must now pass to the consideration of another *supposed law of embryology*–the *so-called law* of *V. Baer*. This generalization is usually stated as follows:-

Law of V. Baer.

Embryos of different species of the same group are more alike than adults, and the resemblances are greater the younger the embryo examined Great importance has been attached to this generalization by embryologists and naturalists, and it is very widely accepted. *Nevertheless, it is open to serious criticism.* If it were true, we should expect to find that *embryos of closely similar species would be indistinguishable, but this is notoriously not the case. On the contrary, they often differ more than do the adults*, in *support of which statement the embryos of the different species of Peripatus may be referred to.* The generalization undoubtedly had its origin in the fact that there is what

may be called a family resemblance between embryos, but this resemblance, *which is by no means exact, is purely superficial, and does not extend to anatomical detail................* (Page 323)

It is obvious that we cannot answer the question why the different ontogenetic effects are just what they are. Developmental physiology takes the specific nature of form for granted, and it may be left for *a really rational theory of the evolution of species in the future to answer* the problem of species, as far as it is answerable at all. What we intend to do here is only to say in a few words wherein consists the specific character of embryonic organs *That embryonic parts are specific or typical in regard to their protoplasm is obvious, and is well proved by the fact that the different parts of the embryo react differently to the same chemical or other reagents* (Herbst, Loeb). *That they may be typical also in regard to their nuclei was shown by Boveri for the generative cells of Ascaris; we are not able at present to say anything definite about the importance of this fact.*" *

Specific characters.

" एनसाईक्लोपीडिया बृटेनिका " (अंगरेज़ी विश्वविद्याकोश) ११ संस्करण, भाग ९, पृष्ठ ३१९, पर का जो लेख ऊपर उद्धृत किए हैं, उन के अर्थ यह हैं:—

* Embryology By Adam Sedgwick M A. F. R. S. Professor of Zoology at the Imperial College of Science and Technology, London. Hans. A. E. Driesch Ph.D. L. L. D, Author of The Science and Philology of the organism and Gifford Lecturer at the University of Aberdeen, &c.

" समान वर्ग की व्यक्तियों में भी यहां इस की भारी विलक्षण गति होती है, यथा, पेरीपेटस (सुंडी कीट) की दशा में, यह एक लंबे छिद्र के रूप में पेट के स्थल के साथ साथ फैली हुई होती है जो मध्य में बन्द होती है, किन्तु दोनों सिरों पर स्थिर, मुख और गुदा के रूप में खुली रहती है..................यहां वर्ग भर में कोई भी, मुख और गुदा की समानता का संदेह नहीं करेगा, तथापि एक ही जाति, पेरीपेटस की सीमा के अन्दर, वह बहुत ही विलक्षण रीतिएं वृद्धि की दर्शाती हैं। " (पृष्ठ ३१९)

" विशेष प्राणियों में यह प्राथमिक आंत के भाग के सीधे तौर पर विकार से वृद्धि को प्राप्त होती है, जब कि दूसरे प्राणियों में यह शारीरिक पर्दे पिंड के धीरे धीरे रूप पकड़ने से बढ़ते हैं, जिस में बीजपिंड भरपूर होते हैं, जो कि बीजों की बढ़ती से शरीर के एक वा अनेक पूर्व स्थित पर्दों से उपजते हैं। " (पृ० ३२१)

" पुनः स्मर्णवादः—वह लगन जो इन अद्भुत बातों से है, वह उस व्याख्या से बहुत बढ़ जाती है, जो उन के संबंध में की जाती है। वह व्याख्या, जो उत्क्रान्ति वाद का एक उद्भव है, यह दर्शाती है, कि विशेष गर्भज आकार और उन के संबंध में जिन का वर्णन अभी हो चुका है, उन का कारण यह है कि गर्भ उन आकारों को संभाले रखता है, जो कभी उस के जवान पितर में थे और जो उत्क्रान्ति के मध्य में खोये जा चुके हैं। यह व्याख्या जो अपने आप को शीघ्र सुझाती है, जब कि हम, उन

आकारों पर सचमुच विचार कर रहे हों, जो कि दूसरे वर्गों की जवान व्यक्तियों के अन्दर वास्तव में हों, यह, उन आकारों पर ऐसी अच्छी तरह नहीं घटती, जो किसी भी अ-युव प्राणी में पाए जाते हों। तो भी, यह उन पर घटाई, गई है, क्यों कि वह ऐसे स्वभाव के हैं, जो कि एक काम करने वाले प्राणी में रह चुके हों, ऐसी कल्पना करना प्रसंग नहीं। इस कल्पना पर कि उत्क्रान्तिवाद सत्य है, अब यह व्याख्या, जिस के विषय में यह कहना होगा मानी नहीं जा सकती, इस व्याख्या को गर्भ विद्या जानने वालोंने और भी आगे लेजाकर, एक विचित्र और प्रायः अन्याय पूर्वक रीति से घटाया है, और गर्भगत सर्व व्यवहारों पर यह व्याख्या घटाई गई है, अन्त में नामधारी पुनः स्मर्ण-वाद तक ले गये हैं, जो वाद कहता है कि गर्भगत इतिहास, पैत्रिक इतिहास का संक्षिप्त पुनः स्मर्ण है, अथवा वर्तमान प्राणिशास्त्र की भाषा में व्यक्तिगत वृद्धि, में जातिगत वृद्धि का सार रूप से नोंध लेखा रहता है। जैसा कि यह एक आवश्यकीय और भारी वाद है, इस की पड़ताल बड़ी सावधानी से होनी चाहिये। जब हम उन वास्तविक पदार्थों की बाबत जांच करने लगते हैं, जिन पर इस का आधार है, तो हम पाते हैं कि, वह हैं नहीं, क्यों कि सर्व जीवित प्राणियों के पितर, मर चुके हैं, और हमारे पास जानने के साधन नहीं कि वह कैसे थे? यह ठीक है कि उन प्राणियों के अस्थि-शेष हैं जो कभी जीते थे, किन्तु यह ऐसे अपूर्ण हैं, कि व्यवहारिक दृष्टि से वर्तमान आवश्यकताओं के लिये व्यर्थ हैं। तिस पर भी, यदि वह संपूर्ण सुरक्षित रहते, तो भी इस बात के दर्शाने की साक्षी न हो सकती कि वह उन प्राणियों के पितर थे जो अब जीवित हैं। हो सकता है,

कि वह ऐसे प्राणी हों, जो विनाश को प्राप्त हो गये और जिन्हों ने कोई सन्तान न छोड़ी हो। अतः वह व्याख्या, जो साधारण तौर पर गर्भगत आकारों पर घटाई जाती है, वह केवल उत्क्रान्तिवाद का परिणाम (उद्भव) है। वास्तव में यह इस से भी कम है, क्यों कि, जो कुछ कहा जा सकता है, वह इस प्रकार होगा, कि यदि उत्क्रान्तिवाद, सत्य हो, तब यह हेतु विचार में आ सकता है, कि क्यों एक पक्षी का गर्भ, उस दशा में जाता है, जिस में इस का कंठ-काक्, कुछ कुछ मछली के सदृश्य होता है ? यह कि पक्षी का कोई प्राचीन पितर ऐसा कंठ-काक् जिस में पिछली तरफ छिद्र हों, रखता होगा, जैसे कि आज मछलियों में पाये जाते हैं।"

"किन्तु कभी कभी व्याख्या इस से भी आगे धकेली जाती है, और यह कहा जाता है कि पितर पक्षी के यह कंठकाक् संबंधी छिद्र, श्वास लेने का वही कार्य्य करते थे, जैसे कि वर्तमान मछलियों के वैसे आकार करते हैं। यह व्याख्या अत्यंत आगे बढ़ा दी गई है, तनिक विचार दर्शा सकेगा। क्यों कि, यदि यह मान लिया जावे, कि सर्व नामधारी चिन्हात्मिक आकार, कभी वही कार्य्य साधते थे जैसा कि अन्य प्राणियों के पूर्ण उन्नत समान आकार, तो यह माननाही पड़ेगा कि नरपशुओं के स्तन कभी पूर्ण उन्नत होंगे और वह बच्चों को दूध पिलाते होंगे और नारिपशुओं के पहिले, कार्य्यसाधक लिंग-इन्द्रिय होतीं था और उन उपजातियों में, जिन में नारियों में नरकी गौण प्रकार की जननइन्द्रियों के चिन्ह थे तो यह जननइन्द्रियें कभी दोनों (नर तथा नारी) जातियों के लिये एकसी होंगी। व्याख्या की

दूसरी अति उक्तिरूपी दशा, साफ तौर पर बहुतही विवादास्पद बातें उपस्थित कर देती है, और प्रत्येक दशा में प्रथम यह उचित होगा कि हमारी तीव्र आलोचना साधारण कल्पना के संबंध में रहे। यह व्याख्या स्पष्टतौर पर इस भाव को दर्शाती है कि उत्क्रान्ति के मध्य में, आकारों का झुकाव इस बात पर रहा कि वह गर्भ में स्थिर रहें, जब कि वह जवान में गुम हो चुके हैं। इस भाव के लिये क्या कोई हेतु हो सकता है? स्पष्टतयः यह असंभव है कि कोई क्रमबद्ध साक्षी मिले, क्यों कि जैसा कि ऊपर वर्णन कर चुके, हम जीवित प्राणियों के पितरों संबंधी कुछ भी ज्ञान नहीं रखते, यदि हम उत्क्रान्तिवाद के ठीक होने की कल्पना करलें, तो अक्रमबद्ध साक्षी की कुछ सामग्री मिलेगी, जो कि स्पष्टतयः उक्त भाव के विरुद्ध है। जैसा कि भली प्रकार जाना गया है, जीवित पक्षी अदंत होते हैं, किन्तु यह प्रायः मान लिया जाता है कि उन की अदंतदशा बहुत थोड़े काल से हुई है और वह उन प्राणियों के वंशसे हैं, जिन के उस समय में जो अब से बहुत दूर नहीं दांत थे।

भूमि के अन्य रीढ़धारी प्राणियों से, पक्षियों की सादृश्यता का विचार करने से और यह बात कि विनाश हो चुके पक्षी, उन पक्षियों से, जो अब जीवित हैं बहुत भेद नहीं रखते थे और उन के दांत होते होंगे, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ऐसी कल्पना के लिये कोई आधार है।

तो भी, कभी भी यह निश्चितरीत से नहीं दर्शाया गया, कि गर्भ में कभी दांत का चिन्ह भी फूटा हो। वैसी ही बहुतसी दशाओंपर यहीं विवेचना घटती है, जैसे पक्षी के हाथ और पग की

न्यून उङ्गलियों और सांपों के न्यून अंग होने के विषय में।"
(पृ० ३२२)

"इस लिये यह मालूम करना आवश्यक है कि क्यों कभी कभी ऐसा होता है कि अमुक अंग को गर्भ धारण किये है, जब कि यह जवान से खोया जा चुका है, और दूसरी दशाओं में, यह झड़ जाता और सचमुच गर्भ तथा जवान दोनोंमें से गुम हो जाता है। वर्तमान लेखक ने इस विषय पर भली प्रकार चर्चा और आन्दोलन "माईक्रोस्कोपिकल सायंस" (दूरवीक्षन संबंधी विज्ञान) नामी त्रिमासिक पत्र बाबत १८९४ पृ० ३५ में किया है और जो परिणाम वहां निकाले हैं वह यह हैं:—

एक गुम होनेवाले जवान अंग उस की व्यक्तिगत वृद्धि की दशा में, उस शरीर से जिस में वृद्धि अधिक हो रही है, धारण नहीं किया जाता, जब तक कि यह बच्चे की दशा में आवश्यक कार्य्य साधक न हो। उन दशाओं में, जहां कि सर्व वृद्धि गर्भगत है, यह बात बहुत कम होती है, क्यों कि गर्भगत जीवन की दशाएं, स्वतंत्र जीवन से, इतनी भिन्न हैं, कि कार्य्य साधक गर्भगत अंग प्रायः उत्पत्ति संबंधी अंग होते हैं अर्थात् नाड़ु, अन्तरीय गर्भ की झिल्ली इत्यादि, जिन की बाबत यह नहीं पता लग सकता कि वह जवान के शरीर में पूर्व विद्यमान अंगों का विकार हैं। तो भी यह कभी हुआ हो ऐसा प्रतीत होता है, और दृष्टान्तार्थ सृसृप तथा पक्षी वर्ग की रक्तवाहिनी नाड़ियों और जेरजों के गर्भों का वर्णन किया जा सकता है। इस के विपरीत, जब कि असामान्य आरंभिक जीवन बहुत देर तक रहे, तो ऐसा प्रतीत होता कि विषय अधिक विचारणीय है, कि अंग जो जवान से गुम हो चुके हैं, वह आरांभिक

दशा के जीव से धारण किये गये, और काम में लाए गए हों। इस का सर्वोत्तम दृष्टान्त जो दिया जा सकता है वह मेंडक के बच्चे का है। यहां हम अंग पाते हैं, जैसा कि, गलफड़े और गलफड़ों के चीर, जिन को कि सब भौमिक मेरुदंड धारियों की आरंभिक और जलीय अवस्था, के अंग मानते हैं; और हम भी पाते हैं कि उन के स्थिर रहने का कारण, उन के उपयोगी होने पर है जिस के विषय में यह कल्पना है कि वह प्राचीन जीवन दशाएं धारण की गईं थीं। बहुत से अन्य दृष्टान्त, बहुत वा थोड़े युक्ति-युक्त, आरंभिक जीवन में पैत्रिक आकारों के धारण कर रखने के संबंध में दिये जा सकते हैं, और यह मान ही लेना चाहिये कि पुष्ट हेतु इस बात की कल्पना करने के लिये हैं कि आरंभिक जीवन धारी पैत्रिक आकार की अवस्थाओं के पूर्ण वा अपूर्ण चिन्ह प्रायः धारण करते हैं।

" **परन्तु यह मानलेने पर हम** इस बात के मानने के लिये कोई हेतु नहीं पाते कि यह प्रचलित बात मानें कि बच्चे की आदि अवस्था का इतिहास, किसी प्रकार उस के पैत्रिक इतिहास का पुनः स्मर्ण है। नहीं, नहीं कभी नहीं, क्योंकि नव जन्मधारी जीव, कुछ पैत्रिक आकार रखने पर भी **किसी प्रकार जवान पितरों से भिन्न स्वरूप नहीं होता।** "

"तात्पर्य यह है कि नवजन्मधारी जीव जवान पैत्रिक अवस्थाओं के चिन्ह प्रायः धारण करते हैं, " पर **गर्भ बहुतही कम ऐसा करते हैं।** "................" **तब, यह विचार, कि गर्भगत वृद्धि ज़रूर ही** पैत्रिक इतिहास का पुनः स्मर्ण है, ज़रूर त्यागदेनी चाहिये "................

" अब हमें गर्भ संबंधी एक और कल्पित नियम का विचार करना चाहिये, जो कि नामधारी नियम वी. बेयर का है । "

सब गर्भ आदि अवस्थाएं परस्पर बहुत मिलती हैं, यह वी. बेयर का मत है। तो भी उक्त लेखक के मत पर बहुत आक्षेप हो सकते हैं।

" यदि यह सत्य होता, तो निकटवर्त्तीय जातियों के गर्भों में कोई भेद न होता ऐसा पाने की आशा करते, किन्तु दुर्भाग्य से यह बात नहीं है । इस के विपरीत, उन में भेद इतना भारी है जितना कि जवानों का आपस में होता है, जिस बात की पुष्टि में, सुंडी-कीट (पेरीपेटस) की भिन्न भिन्न जातियों के गर्भों का वर्णन दिया जा सकता है । " *

आगे जो लिखा है उस का भावार्थ यह है कि भिन्न भिन्न व्यक्तिगत प्रभाव क्यों ऐसे हैं, इन का उत्तर हम नहीं दे सकते । भविष्य में कोई युक्तियुक्त सिद्धान्त ही देगा जिस से स्पष्ट हो सके कि जातियां कैसे बनी ?

हमारे विचार में वह युक्तियुक्त सिद्धान्त पुरुष सूक्त में वेद ही वर्णन कर रहे हैं ।

भावार्थः—एक और ग्रन्थ कर्त्ता जौहन जिरार्ड नामी ने पुराना रहस्य और नवीन उत्तर नामी पुस्तक में इसी बात को लिया है । और सिद्ध किया है कि सर्व ओज कभी पूर्ण रूप से समान नहीं होते, सूक्ष्मदर्शक यन्त्र तथा अन्य रसायनिक परीक्षण से यह बात सिद्ध की जा सकती है कि वह स्वरूप में भिन्न भिन्न हैं ।

---

* एडम सेज्वविक, एम. ए. एफ. आर. एस. तथा हन्स, ए. ई. डेरीक एल. एल. डी. (एनसाईक्लोपीडिया बृटेनिका—पृ० ३२२-३२३)

किसी पौदे का ओज कभी भी वह काम नहीं देगा जो कि एक पशु का ओज देगा। कभी खुम्ब का ओज राज्य–अमात्य को उत्पन्न नहीं कर सकेगा।

Humours of Science सायन्स के चुटकले के कर्त्ता दर्शाते हैं कि जब कि सब गर्भ आदि अवस्था में सर्वथा सामान मान लिये जाएं तो पहिले पशु पहिले पक्षी और पहिली छिपकली का ज्ञान कैसे हो सकेगा?

" In reality, instead of all Protoplasm being the same the differences are infinite. Particles from different sources may be indistinguishable by the microscope or by any test that Chemistry can apply but this only increases the mystery of their nature for each has its own functions and will perform no others. The Protoplasm of a plant will do what that of an animal seemingly identical cannot do. That of a fish will convert the same nutriment into quite a different formation from that of a man. (The Old Riddle And The Newest Answer....)

It is no doubt true that a particle of fungoid differs in no appreciable physical respect from one of human protoplasm. Yet the former will never emerge from the father of the humble mushroom while the other may be instinct with the thought of a Prime minister.

" इस विषय में एक और ग्रन्थ कर्त्ता इस प्रकार लिखते हैं।

" In my possession aré two little embryos in spirit, whose names I have omitted to attach, and at

present I am quite unable to say to what class they belong ....These embryos therefore disclose to us the common ancestory of them all. The common ancestor of lizards birds, mammals, including man, is not to be discovered until we get back to that ancient time when none of these things existed on the earth............These several embryos being exactly the same cannot show us the picture of the *first* mammal, the *first* bird, the *first* lizard.

" But he tells us in the Descent ' that considering the embryological structure of man, in the dim obscurity of the past, we can see that the early progenitor of all the vertebrae must have been an aquatic animal.' So it seems that the embryo of man and of other mammals and of birds and lizards must show us the picture of this old aquatic form that lived before the amphibia and fishes, and before there were any mammals, lizard, amphibia or fishes........................ We do not see how it is going to be proved that the embryos present us with pictures of the ancient progenitors of subordinate groups which have branched off from each other within comparatively recent times." [The Humours of Science.] ‡

" * In the meantime, while our scientists are working with a view to settling that momentous point, let us see how far Darwin cleared the ground for the preparation of the Plan of Creation.

---

‡ By H. Armytage, B.A. L.L.B. London.

* *Id.ibid* [Page 21-24

We find that he was profoundly ignorant of the laws of inheritance, variation, correlation of growth, and reversion, and of their mutual reaction on each other; of the mutual relations of one organic being with another; of the whole economy of any one organic being you like to choose in the world; of the effect, or the relative effects, of food, habit, use, disuse, climates or any physical, organic or inorganic condition of life upon any one being in itself, or in relation to anything else; of those unknown causes that turn a part or organ formerly of use into a useless one; of the origin or causes of variation of instincts; of the causes of sterility; of the causes that lessen fertility; of everything to do with sterility and fertility. He could not tell the difference between a monstrosity and a variation, between an individual variation and a variety, between a variety and a species, between a species and a genus. He could not tell in most cases if an organ were nascent or rudimentary; why some trees do not cross and others do; why certain pigs and sheep were susceptible to certain poisons and other pigs and sheep were not. He could not distinguish (by use of the microscope) between fertile an infertile generative organs; *nor between the embryos of lizards birds and certain mammals.* He could not tell what was a low form and what was a high one. He could not tell if there had been any advance in organisation since the earliest dawn of life. He knew absolutely nothing about the earliest dawn of life.."

* " It is not easy to see, however, why it should be taken for granted that this can only signify *genetic* descent from all such forms, and that these embryo animals are engaged in climbing up their geneological trees."

" It has been laid down as a fundamental law of biogenesis that ontogeny (the development of the individual) and phylogeny (that of the race) must exactly correspond......................This law which I long held as well founded is absolutely and radically false. Attentive study of Embryology shows us, infact, that embryos have their own conditions, suitable to themselves, very different from those of adults." §

‡ "In his review of Haeckel's *Anthropogenie*, after observing that many descriptions of human embryology have been based on observations of dogs, pigs, rabbits, or even chickens and dogfish, he thus continued regarding the book before him."

' A student who relied on Professor Haeckel's description, would obtain an entirely erroneous idea of the development of the human embryo............It is a matter for great regret that a book of 900 pages, bearing such a title, should be allowed to appear, in which the account of the actual development of the human embryo is so inadequate or even erroneous.' "

---

* The Old Riddle And The Newest Answer.

§ Carl Vogt and M. de Quatrefages, quoted in The Old Riddle And The Newest Answer.

‡ Prof Milnes Marshall. Quoted in The Old Riddle And The Newest Answer.

पंचम अध्याय

Paleontology (पेलियनटोलौजी) मृत शेष वस्तु संबंधी विद्या है। युरुप के विद्वान् जब किसी देश में पृथिवी के गर्भ में बहुत नीचे किसी दबे हुए अस्थि-शेष के दर्शन पाते हैं, तो उस पर भिन्न भिन्न प्रकार के अनुमान दौड़ाते हैं। **बड़ोदा** के सुप्रसिद्ध उत्तम **संग्रहस्थान** (Museum) में, शिवालक पर्वत की कन्द्राओं से निकले हुए एक हाथी के शिर के अस्थि-शेष का प्रतिरूप है जिसमें उसके दो दांत भी हैं। यह शिर और दांत आजकल के हाथियों के शिर और दांत से बड़े हैं। इस अस्थिशेष से प्रत्येक बुद्धिमान् अनुमान कर सकता है, कि बहुत ही पुराने समय में हाथी आजकल के हाथियों से बढ़कर शरीर के होते होंगे। बिलोचिस्तान के नगर केटा (Quetta) की लालमिरच और खरबूज़ा, भारत के अन्य स्थानों की लाल मिरच और खरबूज़े से बढ़ कर हैं। काश्मीर का काशीफल भी बहुत बड़ा होता है, जो अन्यत्र देखने में नहीं आया। पंजाब के हिसार ज़िले के जाट बहुत पुष्ट होते हैं जैसा कि काठियावाड़ के ग्रामीण लोग। ग्रीनलेंड (Greenland) के मनुष्य अपुष्ट होने से लंबे कद के नहीं होते, पर काठियावाड़ी वा पंजाबी जाट ६ फीट से भी कुछ इंच ऊपर लंबे होते हैं।

पुराने समय के उक्त अस्थिशेषको देखकर जो **बड़ोदा** में है, हम यही कह सकते हैं कि पुराने समय के हाथी आजकल के उन हाथियों की अपेक्षा बड़े कद और बल के होते होंगे।
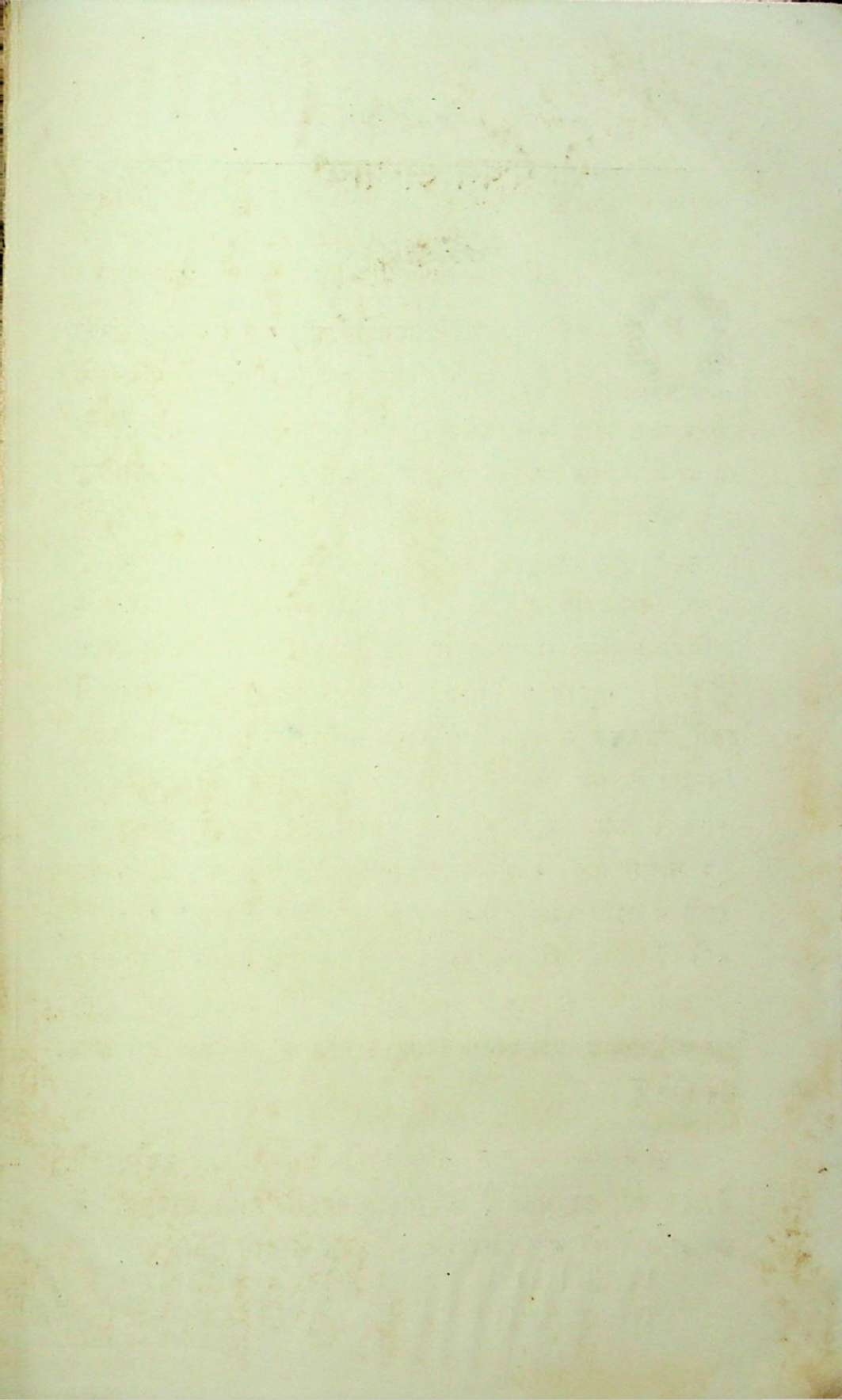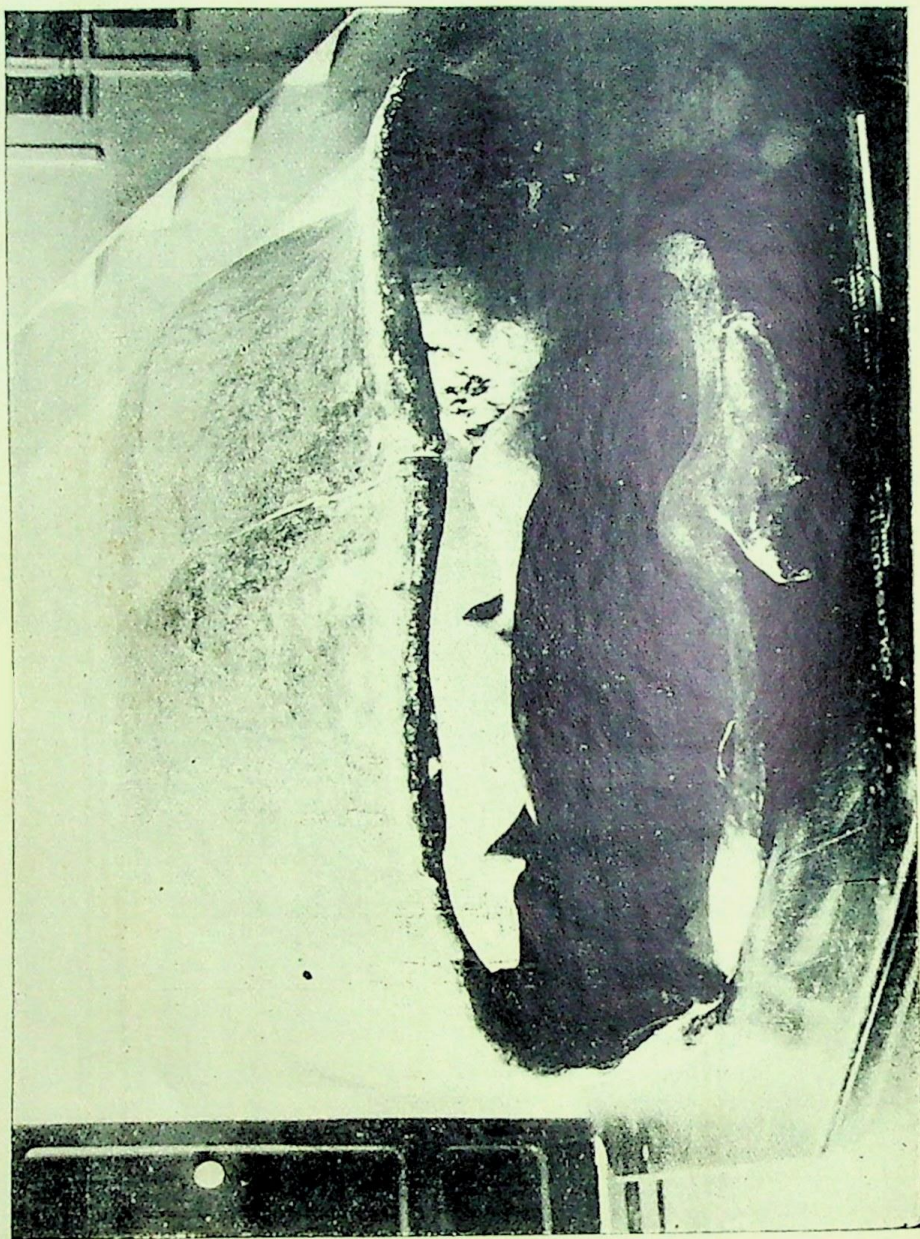
COLOSSOCHELYS ATLAS (*CAST FOSSIL*)
Miocene Sewalik Hills India.

काचबो	कछुआ
Vertical 11 ft.	११ फीट सीधी लंबाई
Transverse 11 ft 8 inches.	११ फीट ८ इंच घेरेदार लंबाई

COLOSSOCHELYS ATLAS, (*CAST FOSSIL*)
Miocene Sewalik Hills India.

काचबो कछुआ

Vertical 11 ft. ११ फीट सीधी लंबाई
Transverse 11 ft 8 inches. ११ फीट ८ इंच घेरेदार लंबाई

यदि भिन्न भिन्न प्रकार के प्राणियों के सौ (१००) अस्थिशेष हों तो उन को प्रत्यक्ष देखने से यही अनुमान कर सकते हैं कि वह वह प्राणी, जिन जिन के यह बड़े बड़े अस्थि-शेष हैं वह बड़े बड़े वा पुष्ट शरीर के होंगे। पर यदि कोई इस से बढ़कर यह अनुमान करे कि यह १०० प्रकार के भिन्न भिन्न प्राणियों के शरीर पुराने समय में एक दूसरे के शरी· रों से विकृत होकर बने होंगें, तो हमें ऐसा अनुमान करने वाले, को रोक देना होगा, और कहना होगा, कि प्रत्यक्षपूर्वक अनु-मान न्यायशास्त्र की पद्धति तथा तर्क अनुसार होता है। कल्पना का नाम अनुमान नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष ज्ञान के सहारे से ही हम अनुमान कर सकते हैं। वह अनुमान जिस को जन्म देने के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण है ही नहीं, वह शास्त्रीय अनुमान ही नहीं, किन्तु कपोल कल्पना है। १०० (सौ) प्रकार के भिन्न भिन्न अस्थि शेष देखने से, उन उन, प्राणियों के शरीरों का अनुमान तो हो सकता है। पर यह अनुमान, नहीं हो सकता, कि उनके शरीर एक दूसरे के शरीर से विकार पाकर बने हों। यदि आजकल हम को एक भी प्रत्यक्ष दृष्टान्त इस बात का मिले, कि अमुक प्राणी का शरीर, अमुक प्राणीके शरीर के विकार से बना है, तब तो हम यह अनुमान भी उन अस्थिशेष के समूह को देखकर कर सकते हैं। पर चूंकि हमें कभी यह बात

प्रत्यक्ष

नहीं हुई, कि किसी भिन्न जाति के प्राणी का शरीर, किसी भिन्न जाति के शरीर से विकृत होकर जन्मा वा बना है, इसलिये इस प्रत्यक्ष के अभाव में उक्त अनुमान कैसे हो सकता है ! नहीं

नहीं कदापि नहीं। युरुपके एक पण्डित का मत भी इस विषय में ऐसा है:—

" There is no direct evidence that in the course of geological time one species has been gradually or suddenly changed into another.......................On the other hand we constantly find species, replaced by others, entirely new, and this without any transition ....as the connecting links can not be found, this is mere supposition, not scientific certainity." §

अर्थ—इस बात का कोई कारणपूर्वक प्रमाण नहीं कि भूगर्भ-विकार के काल में कोई एक जाति धीरे धीरे वा तत्काल दूसरी जाति के रूप में परिवर्तन हो गई हो। इस के विपरीत, हम सदैव जातिएं, उन दूसरी जातियों के जो सर्वथा नवीन हैं और विना शरीर विकृति के स्थान देती हुई, पाते हैं।.... ....चूंकि संयोजक शृंखलाएं नहीं मिल सकतीं, इस लिये, यह मात्र कल्पना है, वैज्ञानिक निश्चयात्मिक बात नहीं "

क्रमबद्ध रचना का सिद्धान्त युक्ति युक्त होने से ठीक है, क्योंकि जब तक घास न उग लेगा तब तक घास खाने वाले कैसे पैदा होकर विचरेंगे ? क्रम और काल यह डारविन मत में जो दो वैदिक सिद्धान्त हैं, वह बुद्धिपूर्वक होनेसे, हम को ग्राह्य हैं। भूगर्भ-विद्या और अस्थिशेष विद्या, पुराने आर्य शास्त्रों के लिये नई नहीं हैं। जिन को आज लायल और गीकी से महाविद्वान् भूगर्भ संबंधी युगों की संज्ञा दे रहे हैं, उन युगों तथा मन्वान्तरों का परि-

§ The Old Riddle And The Newest Answer.

ज्ञान इस उत्तमता से हमारे शास्त्रों में सूत्र रूप से हैं, कि स्ट्रेंज महोदय, उस के संबंध में यह वचन लिख रहे हैं।

"The Hindu doctrine of the recurrent dissolutions and creations of the earth (manus' I, 52—57 and III, 304) which we are accustomed to attribute to mere fancy, may prove to be based upon solid foundations. Certainly it consists very remarkably, with the phenomena of which, only in modern times, we have become conscious in Europe, namely that the earth, has at periods received the death stroke of glacial sterility and at others has revived and been clothed with the exuberant products of tropical fertility."

"The Hindus had, also observed the angle of the pole to very four degrees each revolution of the equinoctial points."

"The ancient Aryans, drawing from what source of information open to them, it is difficult to judge, have pictured to themselves constant dissolutions and recreations, occupying lengthened ages; and we in modern times, discern the unmistakeable traces of the like passage ef events."

अर्थ—"पृथिवी के बारबार प्रलय और उत्पत्ति का हिन्दु सिद्धान्त, (मनु० अ० १,५२—५७ तथा ३, ३०४) जिस को हम केवल कल्पनायुक्त कहने के अभ्यासी हो रहे हैं, कदाचित् युक्त आधार पर रचा हुआ, सिद्ध हो। निःसंदेह बड़ी अद्भुत रीत से, यह उस दृश्य से मिलता है जिसका कि केवल वर्तमान काल में युरुप में हमें ज्ञान हुआ है अर्थात् पृथिवी कालान्तर में हिमयुग के

बांझपन के कारण उजड़ हो चुकी है और कालान्तर में उष्ण कटि-
बंध की हरयावल से हरीभरी हो चुकी है "

" हिन्दुओं ने यह भी अनुभव किया था कि ध्रुव संबंधी
कोण में ४ अंशका अन्तर प्रत्येक भ्रमण पर व्यास के सम ऋतु
बोधक बिन्दुओं की अपेक्षा पड़ता है "

" प्राचीन आर्य्य, कहां से यह ज्ञान उपलब्ध करते थे, इस
का अवधारण करना कठिन है, उन्हों ने अपने लिये बार बार की
प्रलय और उत्पत्ति के चित्र खैंचे हैं जो बहुत काल पर्य्यन्त रहते
हैं और हम वर्तमानकाल में, समान प्रभावों के भ्रान्तिरहित चिन्ह
प्रतीत करने लगे हैं "

जो युगों और मन्वान्तरों का वर्णन आर्ष ग्रन्थों में है, जिन
में कि पृथिवी की कई अंशों में काया पलट जाती है वही बात
आज युरुप में भूगर्भ शास्त्री अनुभव कर रहे हैं, जिस का दिग्दर्शन
ऊपर के वचन करा रहे हैं। उक्त लेख में यह वचन विचार करने
योग्य हैं।

**हम वर्तमान काल में समान प्रभावों के भ्रान्ति रहित
चिन्ह प्रतीत करने लगे हैं "**

इस का भाव यह है कि जो युगों और मन्वान्तरों का सिद्धान्त
तथा उन के प्रभाव, चक्ररूप से प्राचीन आर्य्यों ने अनुभव किये थे
वैसी ही बातें आज Geologists (भूगर्भशास्त्री) युरुप में अनुभव
करने लगे हैं। वा यह कहो कि जिस विद्यामार्ग से पुराने ऋषि
मुनि गये थे, उसी मार्ग के दर्शन युरुप की पण्डित मंडली को
होने लगे हैं।

श्रीयुत बाबू उदयनारायणसिंहजी ने सूर्य्य सिद्धान्त की उत्तम भूमिका में ऋ० मं० १० सू० ९७ मं० १ जो उद्धृत किया है वह नीचे दिया जाता है।

या ओषधीः पूर्वाजाता देवेभ्यस्त्रियुगंपुरा ॥

इस मंत्र में युग शब्द आया है। इस मंत्र का अर्थ यह है " जो ओषधियां पूर्व तीनों युगों में विद्वानों द्वारा जानी गई हैं "

इस का भावार्थ, यह है कि युगों के परिवर्तन होने पर भी ओषधि अर्थात् गेहुं, चावलादि अन्न स्वरूप से परिवर्तन नहीं हो जाते। वह तीनों कालों में स्वरूप से समान रहते हैं। यह तो ठीक है कि युगों के परिवर्तन से अन्नादि ओषधियों के गुणों में परिवर्तन हो पर उन की यथार्थ आकृति वा स्वरूप नहीं बदलता। यदि अमुक युग में गेहुं बहुत मीठे हों तो किसी अन्य युग में उस से कम वा अधिक मीठे हो सकते हैं, जैसा कि आजकल भी स्थान विशेष में स्वादादि में भेद रहता है, पर यह कभी नहीं होगा, कि किसी युग में गेहुं का पेड़ रहे ही नहीं और सर्वथा परिवर्तन हो कर कोई नई जाती बन जावे। उक्त वेदमंत्र दर्शा रहा है कि वनस्पति जगत् में व्यक्तिविकार नहीं होता। डारविनमत अन्तर्गत उस कल्पना का यह खंडन कर रहा है जो वनस्पति जगत् में व्यक्तिविकार वा स्वरूप परिवर्तन मानने को तैयार है।

इस मंत्र से हम दो बातें पाते हैं

(१) युग शब्द का व्यवहार मूल मंत्र में

(२) यह कि युगों के परिवर्तन पर ओषधियां स्वरूप से परिवर्तन नहीं होतीं

महात्मा पण्डित गुरुदत्तजी एम. ए. ने लाहौर आर्य्यसमाज के एक उत्सवपर निम्नलिखित मंत्र की जो युगों के वर्ष संख्या का बोधक है, व्याख्या की थी। यही मंत्र हम आर्य्यधर्मेन्द्रजीवन नामी ग्रन्थ में उद्धृत कर चुके हैं और यही मंत्र उक्त भूमिका में भी है।

शतं ते अयुतं हायनान्द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृरामः ॥

(अथर्व ८-२-२१)

" अर्थात्—१२०००दिव्य वर्ष रूप युग के दशवें भाग को चार, तीन, दो, एक से गुणा करने पर, क्रम से सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, और कलियुग की दिव्यवर्ष संख्या होगी. "

उक्त मंत्र की अद्भुत संस्कृत व्याख्या सूर्य्यसिद्धान्त अ० १ में मिलती है, जो हम अर्थ सहित नीचे देते हैं।

अल्पावशिष्टे तु कृते मयनामा महासुरः।
रहस्यं परमं पुण्यं जिज्ञासुर्ज्ञानमुत्तमम् ॥ २ ॥

अर्थ—सत्ययुग की समाप्ति से कुछ साल पूर्व मय नामक महा असुर ने वह गूढ़, पुण्यजनक, सब से श्रेष्ठ और उत्तम ज्ञान।

(विवरण) कई लोग असुर शब्द को देखकर घबरा जावेंगे पर जो संस्कृत के विद्वान् हैं वह जानते हैं कि यह असु से बना है जिस के अर्थ प्राण के हैं। जो प्राणरक्षा में निपुण है वह असुर अथवा जिस में शारीरिकबल है वह असुर। प्रकरण भेद से असुर शब्द अप्रकाशिक वस्तु का भी बोधक है, पर जब किसी तपस्वी मनुष्य के साथ इस का व्यवहार हो तो वहां बलवान् के उत्तम

भाव को ही प्रघट करेगा, जैसा कि यहां तपस्वी मय के शारीरिक बल को कर रहा है।

वेदाङ्गमग्र्यमखिलं ज्योतिषां गति कारणम्।
आराधयन्विवस्वन्तं तपस्तेपे सुदुश्चरम् ॥ ३ ॥

जो सब वेदाङ्गों में अग्रणी है और ग्रह, नक्षत्रों की गति का कारण है, जानने की इच्छा से आराधना कर के कठोर तप वा उत्तम परिश्रम किया।

शृणुष्वैकमनाः पूर्वं यदुक्तंज्ञान मुत्तमम्।
युगे युगे महर्षीणां स्वयमेव विवस्वता ॥ ८ ॥

(हे ! मय) एकाग्रमन होकर सुनो, उस उत्तम ज्ञान को जो स्वयं विवस्वत (वर्त्तमानमनु†) ने पूर्वयुग में महर्षियों को उपदेश किया था ॥ ८ ॥

शास्त्रमाद्यं तदेवेदं यत्पूर्वं प्राह भास्करः।
युगानां परिवर्त्तेन कालभेदोऽत्रकेवलम् ॥ ९ ॥

यह बहुत प्राचीन शास्त्र है, जो पूर्वकाल में भास्कर (वीरपुरुष×)ने वर्णन किया है, और प्राचीन तथा आधुनिक शास्त्रों में युगों के बदलने का कारण केवल काल का भेद है*।

---

† देखो Apte's Sanskrit English Dictionary.

× Aptes Sans. Eng. Dictionary gives.
"*hero*" as the meaning of भास्कर। अर्थात् आपटे के संस्कृत अंग्रेजी कोष में भास्कर का अर्थ वीर भी दिया गया है।

* "ग्रहादिकों की गति विधि आदि निरूपण के नियम एक से रहते हैं परन्तु समय समय पर वेध (observation) द्वारा ग्रहों को

ऐन्दवस्तिथिभिस्तद्वत्संक्रान्त्या सौर उच्यते ।
मासैर्द्वादशभिर्वर्षं दिव्यं तदहरुच्यते ॥ १३ ॥

सुरासुराणामन्योऽन्यमहोरात्रं विपर्ययात् ।
तत्षष्टिः षड्गुणा दिव्यं वर्ष मासुरमेव च ॥ १४ ॥

तद्द्वादशसहस्राणि चतुर्युगमुदाहृतम् ।
सूर्याब्द संख्यया द्वित्रिसागरैरयुताहतैः ॥ १५ ॥

सन्ध्यासन्ध्यांश सहितं विज्ञेयंतच्चतुर्युगम् ।
कृतादीनां व्यवस्थेयं धर्मपादव्यवस्थया ॥ १६ ॥

युगस्य दशमोभागश्चतुस्त्रिद्व्येकषड्गुणः ।
क्रमात्कृतयुगादीनां षष्ठांशः सन्ध्ययोःस्वकः ॥ १७ ॥

अर्थ—तीस तिथियों का एक चान्द्रमास होता है । संक्रान्ति से संक्रान्ति तक काल का एक सौर मास होता है, और प्रत्येक पूर्वोक्त १२ नाक्षत्र मास का एक नाक्षत्र वर्ष, १२ सावनमास का एक सावन वर्ष, १२ चान्द्रमास का एक चान्द्र वर्ष और १२ सौर-मास का एक सौर वर्ष होता है । एवं १२ सौरमास का दिव्य अहोरात्र होता है (देवता और असुर का) ॥१३॥ देव और असुरों का अहोरात्र विपर्यय (बरअक्स)से होता है अर्थात् जब देवता-ओंका दिन होता है, तब असुरों की रात्रि होती है । एवं जब असुरों का दिन होता है तब देवताओं की रात्रि होती है । ऐसे दिव्य ३० अहोरात्र का एक दिव्यमास और १२ दिव्य महीनों का एक दिव्य वर्ष होता है ॥ १४ ॥ पूर्वोक्त १२००० दिव्य वर्षों की

देखने से कुछ बीज (correction) देना पड़ता है, इस कारण कुछ कुछ काल में भेद पड़ता है. ”

एक चतुर्युगी (चौकड़ी–युग) होती है । जिस के सौर वर्ष ४३२०००० होते हैं ॥ १९ ॥ उक्त चतुर्युगी का परिमाण सन्ध्या और सन्ध्यांश मिलाकर है । चतुर्युगी में जो सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और काल क्रम से ४, ३, २ और १ (संख्या से जो आगे गुणन होगा) हैं यह धर्म के ४ चरण की न्याईं हैं ॥ १६ ॥ युग (पूर्वोक्त एक महायुग वा चतुर्युगी) के वर्ष के दशमभाग को ४, ३, २ और १ से गुणा करने से क्रम से कृत, त्रेता, द्वापर और कलियुग के वर्षों का परिमाण होगा और इन प्रत्येक युगों के वर्ष परिमाण का छठा भाग अपना अपना सन्ध्या और सन्ध्यांश वर्ष होता है जो उसी में मिला है अर्थात् प्रत्येक युगमान वर्ष के छठा भाग के वर्ष दो भाग में से एक भाग आदि सन्धि का वर्ष और दूसरा भाग अन्त सन्धि का वर्ष होता है ॥ १७ ॥

युगानां सप्ततिः सैका मन्वन्तरमिहोच्यते ॥
कृताब्द संख्या तस्यान्ते सन्धि प्रोक्तो जलप्लवः ॥ १८ ॥
ससन्धयस्ते मनवः कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दश ॥
कृत प्रमाणः कल्पादौ सन्धिः पञ्चदशः स्मृतः ॥ १९ ॥
इत्थं युगसहस्रेण भूतसंहारकारकः ॥
कल्पोब्राह्ममहः प्रोक्तं शर्वरी तस्य तावती ॥ २० ॥
परमायुः शतं तस्य तयाहोरात्रसंख्यया ॥
आयुषोऽर्द्धमितं तस्य शेष कल्पोऽयमादिमः ॥ २१ ॥
कल्पा यस्माच्च मनवः षड्व्यतीताः ससन्धयः ॥
वैवस्वतस्य च मनोर्युगानां त्रिघनो गताः ॥ २२ ॥
अष्टाविंशाद्युगादस्माद्यातमेतत्कृतं युगम् ॥
अतः कालं प्रसंख्याय संख्या मेकत्र पिण्डयेत् ॥ २३ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त ७१ महायुगों (चतुर्युगी) की एक मन्वन्तर संज्ञा है और मन्वन्तर के अन्त में सत्ययुग के वर्ष परिमाण (सौर वर्ष १७२८००० जिस के दिव्य वर्ष ४८०० होते हैं) के बराबर सन्धि का परिमाण है। इस सन्धि समय सारी पृथिवी जल से भर जाती है अर्थात् जलमय हो जाती है ॥ १८ ॥ पूर्वोक्त १४ मन्वंतर का एक कल्प होता है। इस में १४ अन्त की सन्धियां होती हैं और एक आदि सन्धि सत्ययुग के परिमाण के बराबर होती है अर्थात् एक कल्प में १४ मन्वन्तर और १५ सन्धियां होती हैं ॥ १९ ॥ पूर्वोक्त रीति से १००० चतुर्युगी का एक कल्प होता है जिस के अन्त में सब प्राणियों का नाश हो जाता है। एक कल्प का एक ब्राह्म दिन होता है और इसी परिमाण की रात्रि अर्थात् पूर्वोक्त दो कल्प का एक ब्राह्म अहोरात्र होता है ॥ २० ॥ ब्रह्मा की आयु (सृष्टि वर्त्तमान रहेगी) ब्राह्म मानसे १०० वर्ष की है अर्थात् पूर्वोक्त ३० ब्राह्म अहोरात्र का एक ब्राह्म मास, एवं १२ ब्राह्म मास का एक ब्राह्म वर्ष होता है। ऐसे १०० वर्ष की ब्रह्मा की आयु है। इस आयु का आधा भाग वीत गया और अवशिष्ट (बाकी) आयु के कल्पों में से यह वर्त्तमान पहिला कल्प है अर्थात् १०० वर्ष में से ५० वर्ष पूरे वीत गए। एवं ५१ वां वर्ष अवशिष्ट आयु का वीत रहा है ॥ २१ ॥ इस वर्त्तमान कल्प (ब्रह्म दिन) में से ६ मन्वन्तर सन्धियों सहित वीत गए हैं और इस वर्त्तमान वैवस्वत नामक सप्तम मन्वन्तर के ७१ महायुगों में से पूरे २७ चतुर्युग वीत गए हैं ॥२२॥ और २८ वीं चतुर्युगी में से सतयुग पूरा वीत गया है। अब काल की संख्या करने के लिए इस २८ वीं चतुर्युगी के कृत युग तक के वीते हुए वर्षों को एक स्थान में योग करे ॥ २३ ॥

१४ मन्वन्तरों के नाम यह हैं।

१ स्वायम्भुव २ स्वारोचिष ३ औत्तमि ४ तामस ५रैवत ६ चाक्षुष ७ वैवस्वत ८ सावर्णि ९ दक्षसावर्णि १० ब्रह्मसावर्णि ११ धर्मसावर्णि १२ रुद्रपुत्र १३ रौच्य १४ भौत्यक।

यह १४ मन्वन्तर और १५ सन्धि मिलकर १००० महायुग होते हैं। महायुग का दशम भाग ४३०००० सौर वर्ष, कलियुग का परिमाण है, इस के द्विगुणित द्वापर, तीन गुणा त्रेता, और चार गुणा सत्ययुग और प्रत्येक युग के वर्षों का छटा भाग आदि और छटा भाग अन्तसन्धि के वर्ष होते हैं।

१ मन्वन्तर में ७१ महायुग होते हैं। १ महायुग में ४३२०००० सौरवर्ष होते हैं। इन को ७१ से गुणन करने पर १ मन्वन्तर के

३०६७२०००० सौर वर्ष होंगे।

इन को १४ से गुणन करने पर १४ मन्वन्तर के

४२९४०८०००० सौर वर्ष होंगे।

१ सन्धि में १७२८००० सौर वर्ष होते हैं इन को १५ से गुणन करने पर २५९२०००० सौर वर्ष होंगे। इस संख्या को १४ मन्वन्तर की वर्ष संख्या में योग किया तो

४३२००००००

अर्थात् चार अरब बत्तीस करोड़, सौर वर्ष हुए। यही एक कल्प वा ब्रह्म दिन का परिमाण है। इसी प्रकार इतने ही वर्ष की ब्रह्म-रात्रि होती है।

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम्।

तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्चतथाविधः ॥ ६९ ॥
इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु ।
एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ७० ॥

मनु० अ० १

अर्थ—(मनुष्यों के ३६० वर्ष का एक दैव वर्ष, ऐसे) चार हज़ार वर्ष को कृतयुग कहते हैं और उस की सन्ध्या (युग का पूर्वकाल) चारसौ वर्ष का होता है और सन्ध्यांश (युग का पर काल) भी चारसौ वर्ष का होता है । (सन्ध्या और सन्ध्यांश मिल के कृतयुग ४८०० दैव वर्ष का होता है) ॥ ६९ ॥ इतर तीन (त्रेता द्वापर कलि) की सन्ध्या और सन्ध्यांश के साथ जो संख्या होती है वह क्रम से सहस्र में की और शत में की एक एक संख्या घटाने से तीनों की संख्या पूरी होती है । जैसे कृतयुग ४८००= १७२८००० त्रेता ३६०० = १२९६००० द्वापर २४००= ९६४००० कलि १२००=४३२००० ॥ ७० ॥

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम् ।
एतद्द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ७१ ॥
दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया ।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतींरात्रिमेव च ॥ ७२ ॥

अर्थः—यह जो प्रथम गिनती चार युगों की बारह हज़ार १२००० दैव वर्ष कहे, यह दैव एक युग कहा है ॥ ७१ ॥ दैव-सहस्र युगों का ब्राह्म एक दिन और सहस्र युगों की रात्रि (अर्थात् दैव दो सहस्रयुग होने से ब्रह्मा का रात्रिदिन होता है । दैव १२००० वर्ष का एक युग, इसे १००० से गुणा करने से १२०००००० दैव वर्ष का एक ब्राह्मदिन हुआ । इसे ३६० गुणा

करने से ४३२०००००००० मानुष वर्षों का ब्राह्मदिन और इतनी ही रात्रि हुई ॥ ७२ ॥

तद्दैयुगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्य महर्विदुः।
रात्रिं च तावतीमेव तेहोरात्र विदोजनाः ॥ ७३ ॥
तस्य सोहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रति बुद्ध्यते।
प्रति बुद्धश्च सृजति मनः सद सदात्मकम् ॥ ७४ ॥

अर्थः—सहस्र युग से अन्त अर्थात् समाप्ति है जिस की वह ब्रह्मा का पुण्य दिवस है, उतनी ही रात्रि वे अहोरात्रज्ञ जानते हैं ॥ ७३ ॥ पूर्वोक्त अहोरात्र के अन्त में वह शयनस्थ और जागृत होता है और जाग कर संकल्प विकल्पात्मक मन को उत्पन्न करता है ॥ ७४ ॥

इत्यादि प्रमाणों को देख कर एक जिज्ञासु समझ सकता है, कि किन स्पष्ट शब्दों में सूर्य्यसिद्धान्तने सन्धिसमय में सारी पृथिवी का जलमग्न हो जाना एक स्थल पर और दूसरे स्थल पर कल्प के अन्त में सर्व प्राणियों का नाश हो जाना लिखा है ? स्ट्रैंज महोदय इसी जलमग्न होने का वही भाव ले रहे हैं जो वर्तमान भूगर्भशास्त्री "हिमकाल" का समझते हैं। वास्तव में बात एक ही है क्योंकि हिम भी तो जल के ही अन्तर्गत है।

आज भूगर्भशास्त्र (Geology) के जो उच्चतम सिद्धान्त समझे जाते हैं, उन से भी बढ़कर उच्चतम सिद्धान्त सूर्य्यसिद्धान्त तथा मानव धर्मशास्त्र के उपरोक्त वचनों में मिलते हैं।

अब रही यह बात कि पृथिवी के गर्भ में से जो जो अस्थिशेष निकलते हैं, वह किस बात के बोधक हैं ? इस का उत्तर यह है

कि वह दर्शाते हैं कि अमुक आकार के प्राणी कभी पृथिवी पर वास करते थे।

बड़े बड़े विचित्र अस्थिशेष आज तक सर्वत्र प्राप्त हो चुके हैं और हो रहे हैं। लैनकास्टर महोदय Science From An Easy Chair (सुगम विज्ञान) नामी पुस्तक में अपना एक मत यह भी दर्शाते हैं कि पुराने समय में भूगोल पर भयंकर पशुओं की संख्या अधिक थी और मनुष्यने अपने बसने के लिये जब स्थान लिया तो उन को नष्ट भ्रष्ट कर दिया और आज उन के अस्थिशेष मिलते हैं। हमें इस मत से कोई संबंध नहीं। हमने यह दिखाना है कि जो अस्थिशेष हाथी, कश्यपादि उन प्राणियों के मिलते हैं जिन का नाम हमें मालूम है वह प्रायः बड़े बड़े परिमाण (कद) के होते हैं। इन को देख कर शास्त्रों का यह सिद्धान्त पुष्ट होता है कि आदि अमैथुनि सृष्टि के समय तथा उस के निकटवर्त्ती युगों में बड़े बड़े शरीर के सर्व प्रकार के पुष्ट प्राणी होते थे। हम पहिले तीन अध्यायों में दर्शा चुके हैं कि आदि काल में मानवी शरीर आदर्श, प्रवर्त्तक, कारण तथा सांचा रूपी कहलाने के लिये उन्नत से उन्नत तथा पुष्ट से पुष्ट होते थे। कश्चप की खोपरी, और हाथी के दांतों का चित्र जो इस ग्रन्थ में हमने बड़े श्रम से दिया है, वह निर्विवाद रूपसे इस बात को सिद्ध कर रहा है। इस हाथी का काल युरुप निवासियों के मतानुसार बहुत प्राचीनकाल का है और कछुए का भी वैसा ही। आजकल जो बड़े से बड़े हाथी के दांत हैं उन से यह जब बड़े हैं तो यह अनुमान करना ठीक ही है कि आज से लाखों वर्ष पूर्व हाथी और कछुए बहुत पुष्ट तथा बड़े शरीर रखनेवाले होते थे। इसी लिये आदि अमैथुनी सृष्टि के मानवी शरीर भी सांचा रूप

ही होते थे और उन की आयु ४०० वर्ष तक प्रायः हुई होगी यह बातें कोई विचित्र नहीं हो सकतीं।

> त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् यद्देवेषु
> त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥

यजु० अ० ३ मं० ६२ ॥

अर्थ—प्रतिदिन हवन करने वाले की जो तिगुणी आयु होती है, आत्मज्ञानी की जो तिगुणी आयु हो सकती है, जो स्तुतियोग्य विद्वानों की तिगुणी आयु होती, हमारी भी वही, वैसी ही तिगुणी आयु हो।

(भावार्थ) प्रतिदिन विधिपूर्वक होम करने वाले को नए भयंकर रोग नहीं लग सकते, आत्मज्ञानी होने से वह शोकरहित होता हुआ, विषयासक्ति से भी बचता रहेगा और गृहस्थ में भी जितेन्द्रिय रह कर व्यायामादि तथा पुरुषार्थ और पूर्ण योगाभ्यास करता हुआ तिगुणी अर्थात् ३०० वर्ष की आयु को प्राप्त हो सकेगा। आदि अमैथुनि सृष्टि के मनुष्य ३०० से भी अधिक अर्थात् ४०० वर्ष की आयु को प्राप्त हुए हों तो यह संभव है।

जिस कछुए वा हाथी के चित्र इस पुस्तक में दिये गये हैं उन की आयु निःसंदेह वर्त्तमान काल के कछुए वा हाथी से दुगुनि, तिगुणि वा चौगुणि मानने में किसी भी युरुपवासी को संकोच नहीं हो सकता, फिर कोई कारण नहीं कि आदि अमैथुनि सृष्टि के मनुष्यों की आयु ३०० वा ४०० वर्ष की मानने में हमें संकोच हो। दीर्घायु संबंधी अनुसन्धान करने वाले इस समय में भी

१९० वर्ष तक की आयु वाले मनुष्यों के इतिहास तथा दर्शन पाते हैं। जब यह बात है तो आदि काल में इस से दुगनि आयु, आदि मनुष्यों की प्रायः हो, संभव है। आदर्श आयु मनुष्य की उक्त वेद मंत्रानुसार ३०० वर्ष की वा ४०० वर्ष की मानना सर्वथा उचित ही है।

आदि काल के मनुष्य कितने बलिष्ट, कितनी आयु तथा मेधा वाले होते होंगे यह प्रत्येक विद्वान् सोच सकता है, निरुक्त में जो लेख मिलता है कि पिछले युगों में लोग मेधा और आयु से जब हीन होने लगे तब वेदांग ग्रन्थ रचने की ज़रूरत पड़ी ठीक ही है, निरुक्त का भाव यह है कि आदिकाल के मनुष्य पूर्ण मेधा और पूर्ण आयु वाले होते थे, इसलिये उन को वेदांगों की क्या ज़रूरत थी?

श्रीयुत पण्डित रघुनन्दन शर्माजी ने अपनी उत्तम पुस्तक "अक्षर विज्ञान" में डारविन मत की आलोचना करते हुए एक स्थल पर यह भी दर्शाया है कि मिसरदेश की मुमयाई इस कल्पना का खंडन करती है कि पहिले मनुष्य और प्रकार का था और अब विकृत होकर और प्रकार का हो गया है।

विदित रहे कि आकृति के प्रकार में आदि सृष्टि से आज तक भेद नहीं हुआ, किन्तु उस के अंगों की वृद्धि आदि में भेद होता चला आ रहा है, पर इस का यह भाव नहीं कि अब जो दक्षिण के राममूर्त्ति, इंगलेंड के सेंडो और बड़ोदा के माणिकराव, मल्लविद्या विशारद हैं, अथवा जाट, गोर्खा, सिक्ख, राजपूत, मरहटा, काठियावाड़ी, पुष्टिमान§ आदि अनेक वीर हैं, वह पुरुषार्थ द्वारा अपने

§ पुष्टिमान का पहिला विकार पुष्टान और दूसरा पठान हुआ.

शरीरों को उस सीमापर नहीं ले जा सकते, जिन पर कि आदि सृष्टि के मनुष्य पहुंच चुके हैं। अवश्य ले जा सकते हैं। उन के ही समान विद्या, धर्म आदि उत्तम गुण, यदि आज लोग पूर्ण पुरुषार्थ करें तो धारण कर सकते हैं और इसी लिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, जो उन का जीवन उद्देश्य था, वह आज भी प्राप्त हो सकता है।

नवजीवन नामी इन्दौर के उत्तम हिन्दी मासिक पत्र में पाताल गामी प्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुत पण्डित **केशवदेव** शास्त्री एम. डी. का एक सार गर्भित लेख दीर्घायु संबंधी निकला है, जिस में उन्हों ने अमेरिका (पाताल देश) के सुप्रसिद्ध डाक्टर **कैलोग** का यह मत दर्शाया है कि चार पीढ़ियों में मानवी प्रजा पूर्ण रूप से सुधरती हुई दीर्घ आयु को प्राप्त हो सकेगी। वास्तव में डाक्टर कैलोग तथा डाक्टर केशवदेव शास्त्री का मत युक्तियुक्त है।

हम आयुहीन भारतवासी जो आज ही ऋषिजीवन, ऋषि आयु को प्राप्त होना चाहें, नहीं हो सकते, कम से कम ४ पीढ़ियों में हमारी प्रजा सुधर सकती और १०० वर्ष की आयु की अधिकारी हो सकती है। २०० वर्ष की आदर्श आयु और आदि काल के ऋषियों का आदर्शजीवन प्राप्त करना कुछ सहज नहीं। भूगोल के विरले ही संस्कारी, पूर्ण तपस्वी, सच्चे योगी ही उन को धारण कर सकते हैं।

मिसर का इस मुमयाई (Mummy) संबंधी, भिन्न भिन्न मत हैं। उन को दर्शाना इस समय हमारा काम नहीं। कोई ७००० वर्ष की इन को बतलाते हैं और कोई ९००० वर्ष की, उक्त मुमयाई जिस का

चित्र इस पुस्तक में दिया गया है, ३००० वर्ष की कही जाती है। इस से यह बात तो सिद्ध हो गई कि ३००० वर्ष के अन्दर मानवी आकृति के प्रकार में भेद नहीं हुआ। जब ७००० वा ३००० वर्ष के अन्दर भेद नहीं हुआ, तो इस से पूर्व कैसे हो सकता है? यह प्रत्यक्ष सुरक्षितशव (मुमयाई) दर्शा रही है, कि मिसर में मानव जाति निःसंदेह उसी प्रकार की थी, जैसा कि मानव जाति अब सर्वत्र है।

मिसरी लोग, उस समय मोह अन्धकार में पड़ चुके थे जब उन्हों ने शव रक्षा का काम आरंभ किया। जिस देश में पदार्थ विज्ञान, समाज में चरितार्थ होता है, वह देश अपने शव जलाता है। आज युरुप के डाक्टर शव जलाने की प्रथा डाल रहे हैं।

कुछ वर्ष हुए कि फ्रांस देश में सेन प्रान्त में प्राचीन मनुष्य की एक खोपरी मिली थी, जिस के "उन्नत-आकार" को देख कर, बड़े बड़े विद्वान् कह उठे कि मानव जाति के पुराने पितर बहुत विज्ञानी थे।

भारत वर्ष में आर्य्य प्रजा विज्ञानी होने के कारण शव सदैव जलाती है। इस प्रजा के आदि ऋषियों की खोपरिएं नहीं मिल सकतीं। फिर इस प्रजा की आदि खोपरिएं उन्नत थीं वा अवनत, इस प्रश्न का उत्तर क्या है? हम कहेंगे, कि उन्नत थीं, कारण कि खोपरी के सामुद्रिक आकार को देख कर आज लोग उस की उन्नति का अनुमान करते हैं। पर हम किसी भस्मीभूत खोपरी के विद्यमान् कार्य्य को देखकर उस के महत्त्व का परिचय

दिला सकते हैं। जिन खोपरियों ने उपवेद, उपनिषद, दर्शन, काव्य आदि ग्रन्थ रचे, क्या वह खोपरिएं उन्नत थीं वा नहीं? मानना पड़ेगा, कि उन्नत थीं और साथ ही यह भी मानना होगा कि ऋषि मुनियों के दिमागों की उन्नति जानने के लिये उन सड़ी गली खोपरियों की ज़रूरत नहीं, किन्तु उन का जीवित जागृत साहित्य, एक मात्र, उन की खोपरियों के अन्दर रहने वाले दिमाग की उन्नति का बोधन करा सकता है। आगरा में ताजमहल (भवन) देख कर उन कारीगरों की बुद्धि तथा हस्तकौशल का महत्त्व सहज में समझ आ सकता है, जिन्हों ने उस को जन्म दिया। **संस्कृतसाहित्य** रूपी अद्भुत कार्य्य आज प्राचीनतम ऋषियों के अपूर्व महत्त्व का बोधन कराने के लिये काफी है। जिस प्रकार मिस्रदेश की सभ्यता दर्शाने के लिये वहां के मीनार तथा मुमयाई Mummy आदि पदार्थों को लोग पर्य्याप्त समझते हैं, उसी प्रकार प्राचीन ऋषिमुनियों की सभ्यता दर्शाने के लिये

संस्कृतसाहित्य

के अटल मन्दिर खड़े हैं।

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व हम कुछ प्रश्नों के उत्तर देने आवश्यक समझते हैं।

प्रश्न—प्रलय का क्या लाभ है?

उत्तर—दानवीर स्वर्गवासी श्रीयुत मलिक ज्वालासहायजी रईस लूनमियानी ने एक स्थल पर जो लिखा है, उस का भाव यह है कि प्रलय काल में जीव ईर्षादि मन की दुष्ट वृत्तियों को भूल जाते हैं, जैसा कि सुषुप्ति अवस्था में मन के विकार नष्ट हो जाते हैं।

सुप्रसिद्ध वक्ता, विद्वद्वर्य्यश्री पण्डित गणपतिजी शर्मा भाषणों में कहा करते थे कि जब किसी खेत की उपजाऊ शक्ति कम हो जावे तो उस में दूसरे खेत के पदार्थ खाद के तौर पर डाले जाते हैं, और कभी कभी जब खाद न मिले तो खेत को कुछ काल के लिये वैसा ही छोड़ दिया जाता है और जब सब पृथिवी को काम करते करते खाद (पुष्टि) की ज़रूरत पड़े, तो सब पृथिवी से काम लेना छोड़ देना होगा और इसी कारण प्रलय से भौतिक जगत् में नवजीवन वा पुष्टि आ जाती है । यह दोनों विचार ठीक हैं। इन के अतिरिक्त हम यह कहेंगे कि प्रलय, रात्री के समान है। दिन का उपयोगी और सहायक अंग रात्री है । रात विश्राम के लिये है। इस विश्राम से आरोग्यता तथा बल की प्राप्ति होती और आयु बढ़ जाती है। कहते हैं कि जिस कैदी को किसी क्रूर मनुष्य ने शीघ्र मारना हो तो उस को सोने से रोक दे, अवश्य उस की आयु घट जाएगी ।

पागलखानों संबंधी बड़े बड़े लेखकों का दृढ़ मत है कि जो लोग नींद भर कर लेते हैं वह कभी पागल नहीं होते । अति बकवाद तथा चिन्ता से निद्राहानि और निद्राहानि से दिमाग की कमज़ोरी और उस से पागलपना आरंभ होता है । कभी भी किसी रोगी को केवल औषध सेवन से आराम नहीं होता, औषध सेवन के साथ ज़रूरी है कि वह **विश्राम** करे अर्थात् रात को नींद भर कर सो सके। नाटक तमाशों में जो लोग निरंतर जाते हैं, वह आधीरात तक जागने के कारण आलसी पीतवर्णी तथा रोगी अवश्य हो जाते हैं । जिस प्रकार रात्री विश्राम की दाता होने से कल्याणकारी है, उसी प्रकार प्रलय को समझना चाहिये ।

(**प्रश्न**) आदि अमैथुनि सृष्टि के मनुष्य कैसे और किस अवस्था में उत्पन्न हुए होंगे ?

(उत्तर) हरबर्ट स्पेन्सर आदि युरुपके अनेक विद्वान् मानते हैं कि प्रलय अवश्य होती है। जिस प्रकार रात्री धीरे धीरे आती है, उसी प्रकार प्रलय की बाबत समझना चाहिये।

ऋतंचसत्यंच···ततो रात्र्य जायत....

(ऋ० अ० ८ अ० ८ व० ४८)

तम आसीत्तमसागूढ़मग्रे – – – – –

(ऋ० अ० ८० अ० ७ व० १७–मंत्र ३)

ऋग्वेद के ऊपरोक्त दो मंत्रों में प्रलय का वर्णन "रात्री" तथा "तम" शब्दोंद्वारा किया गया है।

समाधि और सुषुप्ति दोनों अवस्थाओं में जीवात्मा सुख विशेष को प्राप्त होता है। समाधि में ब्रह्म के योग से जीव प्रत्यक्ष रूप से ब्रह्मानन्द लेता है, किन्तु सुषुप्ति में वही आनन्द परोक्ष रूप से पाता है। एक बालक आंखों से लड्डु को देख कर खा रहा है, खाते समय उस को आनन्द होता है, पर आंख रखने से जान भी रहा है कि यह आनन्द कहां से आ रहा है? इस के विपरीत यदि बालक की आंखों पर पट्टी बांध दी जावे और फिर उस के मुख में लड्डु जिस को उस ने कभी नहीं देखा डाला जावे तो लड्डु को खाकर वह आनन्द तो प्रतीत करेगा, पर कह नहीं सकता कि उस आनन्द का कारण कैसा है?

ठीक इसी प्रकार रोज़ गाढ़ निद्रा के समय तथा प्रलय काल में सब प्राणी ब्रह्मानन्द को ही भोगते हैं, पर तमोगुण रूपी पट्टी होने से वह जान नहीं सकते कि यह आनन्द कहां से आ

रहा है, एक पूर्ण योगी, समाधि में अथवा मुक्त दशा में आनन्द भोगता हुआ, आत्मा में प्रत्यक्ष अनुभव भी करता है कि ब्रह्म से यह आनन्द मैं ले रहा हूं।

इसी लिये सांख्यशास्त्र में सुषुप्ति को समाधि से उपमा दी गई है, जिसका भाव यह है कि सुषुप्ति तथा प्रलय काल में जीव तम से आच्छादित होते हुए भी आनन्द भोगते हैं।

प्रलय अवस्था में जीवों की नाना दुष्ट वृत्तिएं मंद पड़ जाती हैं। जो दुष्ट संस्कार बहुत ही प्रबल होते हैं वह भी क्षीण तो हो जाते हैं, पर अति क्षीण नहीं हो सकते। उन को भोगद्वारा अतिक्षीण कराने के लिये, ईश्वर कल्प के आदि में देह देते हैं, जैसा कि मानव धर्मशास्त्र के निम्न लिखित वचन दर्शा रहे हैं—

हिंस्राहिंस्रेमृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥ २९ ॥
यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये।
स्वानिस्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥ ३० ॥

(मनु० अ० १)

अर्थः—हिंस्रकर्म-अहिंस्र, मृदु (दयाप्रधान)-क्रूर, धर्म धृत्यादि-अधर्म, सत्य असत्य, जिसका जो कुछ (पूर्वकल्प का) स्वयं प्रविष्ट था, वह वह उस उस को सृष्टि के समय उस ने धारण कराया ॥ २९ ॥ जैसे वसन्त आदि ऋतुवें अपने अपने समय में निज निज ऋतु चिन्हों को प्राप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्यादि भी अपने अपने कर्मों को पूर्व कल्प के बचे कर्मानुसार प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३० ॥

प्रश्न हो सकता है कि प्रलय काल में किस प्रकार कर्मों के प्रबल संस्कार दबे हुए रह जाते हैं, जिन के कारण भिन्न भिन्न देह मिलते हैं ? इस के उत्तर में हम कहेंगे कि जिस प्रकार दफतर वा दुकान का काम कर के हम रात सो जाते हैं, दूसरे दिन उठने पर हिसाबाकिताब वा लेखाबही सर्वथा भूल नहीं जाते, उसी प्रकार प्रलय के पीछे भारी प्रबल संस्कार विना भोग के कैसे नष्ट हो जावें ?

महर्षि मनु ने जो ऋतुओं की उपमा देकर आदि अमैथुनि सृष्टि का वर्णन किया है, यह बहुत ही सारगर्भित है। इस का भाव यह है कि ऋतुओं के चिन्ह विना श्रम विशेष स्वाभाविक ही प्रगट होने लग जाते हैं। वसंत ऋतु में वृक्षों में वह खमीर गर्मी सरदी के नियत प्रभाव से उत्पन्न होने लगता और सर्वत्र बाग खिले हुए फूलों से भर जाता है। भूमि की गरमी सरदी के प्रभाव से एसी दशा हो जाती है कि स्वयं ही संखपुष्पी आदि अनेक फूलवाली औषधियां निकल आती हैं।

बसंतऋतु में भूमि को यदि गर्भाशय से उपमा दें तो ठीक होगा। ऋतुओं के परिवर्तन का कारण जल गर्मी की न्यूनाधिकता है। इसी प्रकार आदि सृष्टि के कालपर जैसा कि पश्चिम के भूगर्भशास्त्री भी कहते हैं, अत्यंत गरमी होती है। उस समय भूमि के स्थल की गरमी उतनी होती है जो आज पेट के अन्दर रहने वाले गर्भाशय की हो। जिस प्रकार वर्षाऋतु में भूमि मक्खी, मच्छर, मैंडक, सांपादि प्राणियों को वास देने के लिये, पर्याप्त दशा में होती है, उस प्रकार आदि काल में भूमि के नाना स्थल ऊंचे नीचे होने के कारण नाना प्रकार की जलवायु तथा शीतो-

ष्ण से युक्त होने के कारण नाना प्रकार के प्राणियों के लिये गर्भाशयों का काम देनेवाले होते हैं।

सब जानते हैं कि पुरुष का वीर्य्य स्त्रीके गर्भाशय मे रज के साथ ठैर जाता है तो गर्भ का जन्म होता है। यदि कोई पदार्थ विज्ञानी उन तत्त्वों को पूर्ण रीत से जान ले जो वीर्य्य में हैं तो वह उतना वीर्य्य स्वतंत्र बना सकता है। उस को पुरुष के शरीर से वीर्य्य लेने की ज़रुरत न होगी। इसी तरह पर वह यदि पूर्ण रीत से जान ले कि गर्भाशय में कितने अंश की गर्मी वीर्य्य पोषक रहती है तो वह एक स्वतंत्र गर्भाशय बना सकता है। फिर वायु वा बिजली द्वारा इन दोनों को मिलाकर एक गर्भ का रूप दे सकता है। यदि वह गर्भ को सुरक्षित रख सके तो उस में से समय पर बच्चा पैदा हो सकता है। वास्तव में कोई भी मनुष्य पूर्ण विज्ञानी न होने से उक्त बातें नहीं कर सकता। पर परमेश्वर जो पूर्ण विज्ञानी है वह भूमि के किसी स्थल में जिस में उचित उष्णता हो स्वतंत्र वीर्य्य उत्पन्न कर सकता और दूसरे स्थल में जिस में उतनी उष्णता हो जो आजकल एक उत्तम से उत्तम बलवान् गर्भाशय में है उस वीर्य्य का प्रवेश वायु वा विद्युत द्वारा कराकर एक स्वतंत्र गर्भ (जेर) बना सकता है। यदि उस जेर से छोटा बच्चा पैदा होगा तो उस की रक्षा और पालना के लिये किसी की ज़रुरत पड़ेगी, इस लिये यदि वीर्य्य की मात्रा अधिक ली जावे तो ऐसी अवस्था में बड़ा बालक उत्पन्न हो सकता है जो अपनी रक्षा आप कर सके।

अन्नाद्रेतः। रेतस ः पुरुषः।

(तैत्ति० उपनिषद् १ अनु०)

उक्त वचन से पाया जाता है कि आदि समय में अन्न के पीछे रेतस और रेतस से मनुष्य की उत्पत्ति हुई। यद्यपि सूत्रवत् बहुत ही संक्षिप्त यह उपनिषद के वचन हैं तो भी इन से यह तो सिद्ध होता है कि अन्न (भोजन) की सृष्टि के पीछे मानवी रेतस की सृष्टि हुई और रेतस का परिणाम मनुष्य है।

सत्यार्थ प्रकाश में एक स्थल पर इस बात का उत्तर देते हुए कि बीज पहिले हुआ वा वृक्ष, यह उत्तर दिया गया है कि बीज, क्यों कि बीज कारण वा मूल है। यही बात उपनिषद के उक्त वचन से पुष्ट होती है कि आदि काल में पहिले मनुष्य का बीज बना जिस को वीर्य्य कहते हैं।

आज कल हम देखते हैं कि बीजों को पवन वा तीतलियां, उन स्थलों में जो गर्भाशय का काम दें पहुंचा देती हैं। जहां कुदरत एक तरफ बीज बनाती है, वहीं उसी मौसम में दूसरी तरफ उस के निकट वा कुछ दूर गर्भाशय रचती है। इस से हम अनुमान कर सकते हैं कि जब मानवी बीज की उत्पत्ति आदि काल में हुई तो उसी समय अनेक गर्भाशयों की भी हुई होगी। उपनिषद ने जब रेतस का वर्णन कर दिया तो रेतस को धारण करने वाले रज वा गर्भाशय का वर्णन निःसंदेह उस के अन्तर्गत समझा जा सकता है, क्यों कि शास्त्रों में सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन जहां जहां मिलता है वहां वहां पुरुष और स्त्री दोनों शक्तियों का वर्णन आता है, और एक के कह देने से तात्पर्य दोनों का लिया जाता है। स्वयं इसी उपनिषद के वचन में लिखा है कि रेतस से 'पुरुष' हुआ, तो इस पुरुष शब्द का कथन करने से स्त्री उस के अन्तर्गत आ गई।

बीज को धारण करने के लिये सर्वत्र सृष्टि में गर्भाशय किसी न किसी रूप में विद्यमान है। गेहुं का बीज जब बोते हैं तो उस समय भूमि ही योनि वा क्षेत्र का काम देती है। यदि बीज भूमि की सपाटी पर बो दें तो या तो उगेगा नहीं और जो उग पड़ा तो सुरक्षित नहीं रह सकता। इसी हेतु से भूमि में हल चलाकर वा खोद कर अन्दर की मट्टी में बीज डाल, ऊपर की मट्टी से ढांक देते हैं। ऐसी दशा में बीज मानो गर्भाशय में पड़ गया समझना चाहिये। गर्भाशय में दो गुण हैं, एक तो यह कि वह बीज धारण करने के लिये खुलता है, दूसरे बीज धारण कर लेने पर बन्द हो जाता है। भूमि को खोदना मानो भूमि रूपी गर्भाशय को खोलना है और फिर ऊपर मट्टी से बीज को ढांकना मानो भूमि रूपी गर्भाशय को बंद करना है। कमल फूल में भी यही स्वभाव खुलने वा बंद होने का है, इसी लिये गर्भाशय को सब ही विद्वान् कमल से उपमा देते हैं। पुराणों में अलंकार की रीति से कहा गया है कि ब्रह्माजी कमल से उत्पन्न होते हैं, इस का भाव हमें तो यह प्रतीत होता है कि वेदों के उपदेशक आदि ऋषि, आदि काल में विष्णु के आधार पर जो कमल है उस से पैदा होते हैं। कमल से मतलब ऐसी योग्य पृथिवी से है जो ब्रह्मा के लिये गर्भाशय (कमल) का काम देती है अर्थात् ब्रह्मा के गर्भ को धारण पोषण कर उत्पन्न करती है। रही यह बात कि अलंकार में विष्णु कौन है ? इस के उत्तर में हम कहेंगे कि विश प्रवेशने धातु से यह शब्द सिद्ध होता है अतः इस का एक अर्थ उष्णता (गर्मी) है। कमल अर्थात् भूमि रूपी गर्भाशय विष्णु अर्थात् गर्मी पर निर्भर रखता है।

एक तरफ जब वीर्य्य भंडार अनेक मनुष्यों को उत्पन्न करने के

लिये बना तो दूसरी तरफ अनेक गर्भाशयों का काम उस भूमि ने दिया जो गर्मी के कारण कमल वा गर्भाशय बन सकती थी। यदि वीर्य्य और गर्भाशय निकट ही बने तो लोहे और चुंबक की आकर्षण के समान इन के अन्दर रहनेवाली विद्युत् ने उन को फौरन आकर्षण द्वारा मिला दिया, यदि उचित दूरी पर बने तो विद्युत् तथा पवन ने मिलाया। जब वीर्य्य, गर्भाशय रूपी भूमि में प्रवेश कर गया तो वायु ने आसपास के पदार्थ तो उड़ाकर, उस पर डाल, ढांकने का काम किया वा स्वयं सजीव गर्भ ने निकट वर्त्ती सामग्री को आकर्षण कर अपने ऊपर लपेटना आरंभ कर दिया होगा, जिस से जिस प्रकार बीज मट्टी से ढ़क कर सुरक्षित हो जाता है, उसी प्रकार वह वीर्य्य और रज का पिंड सुरक्षित हो गया और उस की विचित्र गंध उस के विशेष रक्षा का कारण भी कदाचित् बनी हो, उस के पीछे यह गर्भ (जेर) बढ़ते बढ़ते इस योग्य हुआ कि वह आदि पुरुष को जन्म दे सके। इस जेर की झिल्ली संभव है कि अन्दर के मनुष्य की चेष्टा, दबाओ तथा शारीरिक विद्युत् के कारण तथा बाहरी अनेक उचित सहायकों से जैसा कि सूर्य्य की तीव्र रश्मि वा विद्युतादि के कारण फट गई और आदि मनुष्य बाहर निकला।

जो स्त्रियां छोटे कद की होती हैं, उन के गर्भाशय भी छोटे होते हैं और उन के बच्चे प्रायः छोटे कद के होते हैं। काठियावाड़ी वा पंजाबी जाटनी जो प्रायः लंबे कद की तथा पुष्ट शरीर की होती हैं, उन के बच्चे भी पुष्ट तथा लंबे कद के होते हैं। इन लंबी स्त्रियों के गर्भाशय भी ग्रीनलैंड की बौनी स्त्रियों के गर्भाशयों की अपेक्षा बड़े होते हैं। यदि इन से बहुत बड़े

गर्भाशय आदि काल में बने तो उन से निःसंदेह ऐसे बड़े बालक, उत्पन्न हो सकते हैं जो पैदा होने पर फलों को अपने हाथों से उठाकर खा सकें और अपनी पालना आप कर सकें। इन को ही युवावस्था के भी हम कह सकते हैं।

श्रीमती आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, की ओरसे स्व० धर्मवीर श्री पण्डित लेखरामजी का जो स्मारक रूपी उत्तम मासिक उर्दु पत्र निकलता था उस के जनवरी १९११ के अंक में एक भाव पूर्ण लेख बालब्रह्मचारी, विद्या तथा वयोवृद्ध धर्म मूर्त्ति श्रीयुत् मुन्शी नारायणकृष्णजी का उर्दु में निकला था जिस का बहुत अनुवाद यहां हम देंगे। उन्हों ने एक पत्र भी हमारे इसी प्रश्न के उत्तर में ११ सितंबर १९१६ को नारायणगढ़ जिला लायलपुर (पंजाब) से लिखा है, जिस से यही पाया जाता है कि उन के विचार इस विषय में पुष्ट हो रहे हैं जो उन्हों ने उक्त मासिक में प्रगट किये थे।

" आदि सृष्टि में सहस्र स्त्री पुरुष, किस प्रकार पूर्ण वृद्धि के साथ पैदा हुए ? "

आर्य्य समाज के प्रवर्त्तक ऋषि ने जो सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि आदि काल में केवल एक स्त्री और एक पुरुष की उत्पत्ति नहीं हुई, किन्तु सहस्रों स्त्रिएं और सहस्रों पुरुष उत्पन्न हुए और वह शरीर की पूर्ण वृद्धि लिये हुए पैदा हुए। इस पर सर्वत्र प्रश्न होता है कि क्यों कर ऐसा हुआ ? क्या सहस्रों स्त्रिएं तथा पुरुष उल्कापात की तरह आसमान से जमीन पर आ पड़े ? वा उबलती गंधक आदि के समान ज़मीन से निकल पड़े।

इस विषय में वृहदारण्यक उपनिषद जो शतपथ ब्राह्मण (ग्रन्थ) का एक भाग है, अपने एक वाक्य से ऐसे काल का परिचय दे रही है, जब कि चेतन सृष्टि के शरीर पूर्ण होकर नाना प्रकार के ढ़कनों, जेरों और अण्डों आदि की न्याई (जिन के लिये शब्द फटने, फोड़ने, वा फाड़ने का उचित हो सकता है) § अपने ऊपर लिये हुए उन के अन्दर सुरक्षित पड़े थे और उन झिल्लियों वा अण्डों आदि को स्वयं सृष्टिनियम ने वा केवल कुदरत के अद्भुत हाथों ने फाड़ा, वा फोड़ा था, न कि किसी कृत्रिम दाई आदि ने। देखिये, उक्त उपनिषद का दूसरा ब्राह्मण, जो कि एक भाग इस उपनिषद के आरंभ का है और जिस को वृहदारण्यक उपनिषद का दूसरा अध्याय भी माना जाता है। इस में सृष्टि उत्पत्ति के वर्णन के साथ सर्व सृष्टि को मृत्यु का भोजन बतलाते हुए और संवत्सर अर्थात् काल के प्रादुर्भाव का वर्णन करते हुए चौथी कंडिका के अन्त में यह शब्द सब के समक्ष रखे हैं।

तञ्जातमभि व्याददात सभाण करोत सैषवाग भवत् ॥

अर्थात् उस (संवत्सर वा काल) ने उत्पत्ति को फाड़ा, वह (उत्पन्न हुए) आवाज़ करने लगे, वही वाक् (मनुष्य तथा पशु आदि की वाणी) हुई।

इस से प्रगट है कि सर्व चेतन वा जंगम प्राणी अपने प्रादुर्भाव से पूर्व, अपनी अपनी जाति की दशा के योग्य ऐसी झिल्लियों अण्डों आदि के अन्दर (जिन के लिये कि फाड़ने का वा फटने तथा फूटने का शब्द, प्रयोग शैली में है) तमाच्छादित थे कि

---

§ Co-coon (बादामा) को फोड़ कर अन्दर से रेशमी कीड़ा अपने समय पर निकलता है।

फौरन उचित काल के पूरा होने पर किसी स्वाभाविक विद्युत् शक्ति ने झिल्लियों और अण्डों के इस चुपचाप संग्रह को फाड़ा, जिस पर नाना प्रकार के पशु पक्षी उस संग्रह से निकल कर अपने अपने ढ़ंग की आवाज़ें करने वा बोलियां बोलने लग गए।

उपनिषद का यह वाक्य ऐसे साधारण शब्दों में है कि मानो उपनिषद काल में सृष्टि उत्पत्ति का यह नियम एक साधारण बात की न्याईं था, जिस के लिये कोई ज़रुरत किसी विशेष व्याख्या की इस लेख वा वाक्य में नहीं हुई। — — — —

विचार पूर्वक देखा जावे तो पौदों और वृक्षों के बीज केवल एक ऐसे सांचे की न्याईं हैं, जिन में कि नाना प्रकार के तत्त्वों के अणु, स्वाभाविक विज्ञान दृष्टि से एकत्र हुए हैं, जिन में वृक्षों की शाखा पत्तों, फूलों, फलों आदि संबंधी सूक्ष्म रगरेशे (तन्तु) ऐसी अद्भुत रीति से गुप्त हैं, कि वह ज़मीन, बिजली, पानी, वायु आदि के प्रभावों को अपने अन्दर ग्रहण करते हुए एक समय अपने पूर्ण रूप को प्रगट करते हैं — — — — — —

भूमि का स्थल आदिकाल में गर्भाशय का स्थानापन्न समझा जा सकता है, इस में कोई त्रुटि इस प्रकार की नहीं हो सकती जो शरीर की उचित वृद्धि के लिये विघ्नकारी हो। इसलिये वह स्वाभाविक भौतिक सांचे ज़मीन के अन्दर भली प्रकार इतनी वृद्धि पा सकते थे, जितनी वृद्धि पाने पर वह किसी कृत्रिम दाई वा माता पर निर्भर करने वाले न हों। वृद्धि के जो रस, उष्णता आदि चाहियें थे वह सब भूमि के अन्दर से इस प्रकार उपलब्ध हो सकते थे जैसा कि माता के पेट में हो सकते हैं — — — — —

जिस प्रकार आज कल बाल जन्म पर झिल्लियां फटतीं वा अण्डे फूटते हैं। उत्पन्न होने वाले प्राणी तो इन स्वाभाविक ढ़कनों के अन्दर सर्वथा चुप थे फौरन बाहिर आकर, अपनी अपनी जाति की बोलियां बोलने लगे। फिर उन की भूख निवृत्ति के लिये वनस्पति और नाना प्रकार के फल वा ऐसे फल जो वृक्षों से टूट कर ज़मीन पर गिरे थे, जिन के रंग और सुगंध ने उन को अपनी तरफ खैंचा — — — —

अतः आदि में सहस्रों स्त्री पुरुष का पूर्ण वृद्धि के साथ उत्पन्न होना विज्ञान दृष्टि के लेश भी विरुद्ध नहीं"

अब यदि कोई हम से प्रश्न करे कि युवावस्था वा पूर्ण वृद्धि लिये हुए बालक वा पुरुष से क्या मतलब है, तो हम कहेंगे, कि इस का मतलब ऐसी युवावस्था वाले से हो सकता है जो अपनी पूर्ण रक्षा कर सके।

कई भद्र पुरुष कहते हैं कि यह बातें बड़ी विचित्र हैं? हम कहेंगे कि सृष्टि की सब ही बातें विचित्र हैं। क्या इतनी बढ़ी पृथिवी का सूर्याकर्षण द्वारा आकाश में सदैव घूमते रहना और न गिरना विचित्र नहीं? क्या आजकल मानवी गर्भ में नाड़ु से वृद्धि पा कर जीता है, वह विचित्र नहीं?

युरुप के विद्वान् जो प्रायः जीवात्मा को नहीं मानते वह इस विषय संबंधी अभी संदेह कोटि में हैं। नाइनटीन्थसेंचरी (Nineteenth Century) पत्र के एक अंक में हरबर्ट स्पेन्सर ने यह लिखा था कि

"They do not deny, however, that at a remote period in the past, when the temperature of the surface of the earth was much higher than at present and other physical conditions were unlike those we

know, inorganic matter, through successiver complications, gave origin to organic matter."

" (अर्थ) तथापि वह (प्राणि शास्त्री) इस को अस्वीकार नहीं करते, कि अत्यंत भूत काल में, जब कि पृथिवी की सपाटी की उष्णता आज कल की अपेक्षा बहुत अधिक थी, और दूसरी भौतिक दशाएं आज कल की उन दशाओं के जिन्हें हम जानते हैं असमान थीं तो जड़ वस्तु ने लगातार उलझनों के पश्चात् सजीव वस्तु को जन्म दिया--"

इस में जो आदि काल में उष्णता का अधिक होना बतलाया गया है यह युक्त बात है, पर यह बात सत्य नहीं कि जड़ से चेतन की उत्पत्ति हुई। अभी तक युरुप के पण्डित आत्मा के स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण संदेहकोटि में पड़े हुए हैं।

मानव धर्मशास्त्र में जो लिखा है कि कल्प के आदि में पुराने कल्प के कर्मों के अनुसार देह मिले, उस के संबंध में कई भद्र जन प्रश्न किया करते हैं कि यह हम कैसे जाने कि जिस जीव के कर्म मनुष्य देह धारण के थे, उसी को मनुष्य का जन्म मिला दूसरे को नहीं ?

उस के उत्तर में हम कहेंगे कि

सूक्ष्म शरीर

प्रत्येक प्राणी का उस का यथार्थ Record keeper अर्थात् नोंधबही है। मनुष्य तथा सब प्राणियों के शरीर में दो विचित्र वस्तुएं पाई जाती हैं। एक वीर्य दूसरा सूक्ष्म शरीर। वीर्य तो सन्तान का साधन बनता है और सूक्ष्मशरीर मानो योग्यता का Certificate (प्रमाणपत्र) सदैव तय्यार होता रहता है जिस के

द्वारा प्रत्येक प्राणी मरकर योग्यतानुसार जन्म लेता है। जो लोग सूक्ष्म शरीर को मानते हैं वह कभी नहीं मान सकते कि मरकर यूं हि किसी जन्म में कोई प्राणी धकेला जा सकता है, डारविन मत का यह विचार कि कोई प्राणी अकारण ही पहिले किसी शरीर को प्राप्त हुआ युक्त नहीं। डारविन मतानुयायी नहीं बता सकते कि क्यों अमुक जीव आरंभिक लोथड़ा मछली के शरीर को प्राप्त हुआ? हम कह सकते हैं कि उस जीव के पूर्व जन्म वा पूर्व कल्प के कर्म संस्कार उस के सूक्ष्म शरीर पर अङ्कित थे जिस के लिए उस को विवश ईश्वरीय नियमानुसार वह जन्म धारण करना पड़ा।

सूक्ष्म शरीर का होना एक बात पर विचार करने से समझ में आ सकता है, एक मनुष्य मरने के समय अन्तकाल में अपने किसी मित्र को जिस को बहुत समय हुआ मिला था देखने पर उस बात का परिचय देता है जो उस क्षण से चालीस वर्ष पूर्व हो चुकी, यदि यह संस्कार उस के मन के अन्दर वा सूक्ष्म शरीर में न होता तो उस के, स्फुरना कैसे हो सकती? ग्रेमोफोन की चूड़ियां उस शब्द को उद्धृत करती हैं, जो आज से कई वर्ष पूर्व सुना था पर वह सूक्ष्म शरीर उस भाव को उद्धृत करता है जो कई वर्ष पूर्व उस में संस्कारित हो चुका है। यदि यह सूक्ष्म शरीर मौत पर नष्ट होने वाला होता तो कभी संभव न था कि वह पुराने संस्कार इस में रह सकते परन्तु यह सूक्ष्म शरीर जिस का दूसरा नाम लिङ्ग शरीर है, मृत्यु के पीछे भी साथ रहता है। गोबर के कीड़े गोबर के ढ़ेर की तरफ अपने सूक्ष्म शरीर के कारण खिंचे चले जाते हैं और फूलों के कीड़े फूलों की तरफ। भले लोग भले माता पिता के रजवीर्य में प्राप्त हो जन्म

लेते हैं और बुरे बुरों में। जो जैन महानुभाव मानते हैं कि कर्म अपने आप फल देता है, वह इस बात को पूर्ण रूप से अनुभव नहीं करते कि सूक्ष्म शरीर के रचनेवाले हम नहीं किन्तु ईश्वर है।

डारविन आदि महोदय भी उस बात को विवश मानते हैं आदि सृष्टि अमैथुनि होती है। चाहे वह एक लोथड़ा मछली का उत्पन्न होना पहिले माने। वह लोथड़ा मछली भी तो विना मां बाप के ही होती है इस को माने विना भी उन का छुटकारा नहीं।

तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमऽयोनिजं च ॥

वै० आ० २ अ० ४ सू० ६

(तत्र) उन में (शरीरं) शरीर (योनिजं) योनि से उत्पन्न होने वाला (च) और (अयोनिजं) विना योनि के उत्पन्न होने वाला (द्विविधं) दो प्रकार का है योनिज शरीरों के दो प्रकार होते हैं. एक जरायुज दूसरे अण्डज और अयोनिज शरीर के चार प्रकार होते हैं प्रथम सांकल्पिक अर्थात् परमात्मा के संकल्प से प्रत्येक सृष्टि के आरंभ में उत्पन्न होने वाले ऋषि मुनि महर्षि और साधारण मनुष्यों तथा पशु आदि के, द्वितीय सांसिद्धिक§ अर्थात् योगिओं को योग द्वारा सिद्धियां प्राप्त होती हैं उन के बल से जो शरीर वह धारण करते हैं उन को ऐसा कहा गया है, तृतीय स्वेदज अर्थात् डांस मच्छर आदि जन्तु जो सील व मैल आदि के कारण उत्पन्न होते हैं वह स्वेदज कहाते हैं, चतुर्थ उद्भिज अर्थात् वृक्ष वनस्पति गुल्म वीरुध लता घास फूंस आदि जो पृथिवी फोड़ कर उपजते हैं।

---

§ देखो वैशेषिक दर्शन हिन्दी अनुवाद श्रीयुत पंडित तुलसीराम कृत.

षष्ठ अध्याय

इस अध्याय में हम वेद संबंधी कुछ विशेष विचार दर्शाने के पश्चात् पुरुष सूक्त के कुछ मंत्रों की व्याख्या करेंगे, क्योंकि इस सूक्त में सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन है।

(१) मानव धर्म शास्त्र अध्याय दूसरे में "वेदोऽखिलो धर्म मूलम्" इन शब्दों द्वारा कहा गया है कि संपूर्ण वेद धर्म के मूल हैं। धर्म शब्द का अर्थ व्याकरणानुसार "जो धारण किया जावे" ऐसा होता है। यथा अग्नि में दाह गुण उस में धारित रहता है, यदि यह दाह गुण नष्ट हो जावे, तो कहा जावेगा कि अग्नि का धर्म जाता रहा। पक्षियों का उड़ना धर्म है, यदि वह धर्म उन में न रहे तो वह पक्षी ही नहीं। धर्म शब्द के शाब्दिक अर्थ पर विचार करते हुए कह सकते हैं, कि धर्म ऐसे आवश्यकीय गुण कर्म स्वभाव का बोधक है, जो किसी जड़ वस्तु वा चेतन प्राणी में पाए जावें। Duty (कर्त्तव्य) शब्द केवल इस के ¼ अर्थ को प्रकट कर सकता है। भूगोल की किसी भाषा में कोई एक शब्द ऐसा नहीं है, जो धर्म का पर्य्यायवाची कहा जा सके।

उत्पद्यन्तेच्यवन्तेच यान्योऽन्यानि कानिचित्।

(मनु० अ० १२, ९६)॥

"वेद से अन्य मूलक जो कुछ ग्रन्थ हैं वे उत्पन्न और नष्ट होते हैं"। इस श्लोक का भाव यही है, कि जो विद्या ग्रन्थ वेद मूलक नहीं वह उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं। यह बात सत्य है,

कारण कि हम देखते हैं कि अमेरिका युरोपादि में एक वाद आज बड़े जोर से प्रचार पाता है, दो चार वर्ष पीछे उस का खंडन वहां ही हो जाता है।

जैसा कि पहिले युरुप के विज्ञानी कहते थे कि स्वर्ण एक तत्त्व है। अब रसलवैलस The Wonderful Century नामी पुस्तक में मान रहे है कि यह पाकज है, एक तत्त्व नहीं। कभी डारविन मत के क्रूरवाद का बड़ा जोर था अब उस से कम है, कल को यह वाद सर्वथा खंडित समझा जा सकता है, क्यों कि वेद मूलक नहीं।

इस श्लोक का यह मतलब नहीं कि लोग स्वतंत्र विचार न करें वा नए अनुभव प्रकाशित न करें। अवश्य करें, पर वह सत्य अथवा वेद मूलक होने चाहियें। वेद को सर्व विद्याओं का मूल (बीज) मान कर ही पुराने काल में शाखा ग्रन्थ ऋषि लोग रचते थे।

महा मुनि कणादजी ने वैशेषिक दर्शन के दूसरे सूत्र में इस का सारगर्भित लक्षण, इस प्रकार किया है

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥ २ ॥

अर्थात् " (यतः) जिस से (अभ्युदय निश्रेयस सिद्धिः) भोग, मोक्ष की सिद्धि हो (सः) वह (धर्मः) धर्म है।" " उन वेदोक्त शुभ कर्मानुष्ठान और तत्त्वज्ञानोपदेश के वेदादि शास्त्राभ्यास का नाम धर्म है। जिन से सांसारिक (ऐहिक) आमुष्मिक सब प्रकार के सुख भोग और अन्त में धर्मानुष्ठान से अन्तः करण शुद्ध होने पर उपजे ब्रह्मज्ञान से निःश्रेयस (मुक्ति) भी सिद्ध हो सके।"

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥

(वै० अ० १ सू० ३)

(अर्थ) उस धर्म का वचन होने से वेद शास्त्र का प्रामाण्य है।"

(भावार्थ) " क्योंकि वेदादि शास्त्र धर्म का वर्णन करते हैं, इस कारण लोक उन को प्रमाण मानते हैं।

नोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः

(मीमांसा द० १-१-२)

(अर्थ) जिस की प्रेरणा वेद करता है वह धर्म है।

महर्षि कणाद ने धर्म का लक्षण करने के पीछे अगले तीसरे सूत्र में धर्म भण्डार वेद को कहा और मीमांसा दर्शन में भी वही तत्त्व दर्शाया गया कि धर्म का प्रेरक वेद है।

डा० फिलिन्ट× आदि अनेक पश्चिमी महानुभाव जो लिखते हैं, कि ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता इस लिये है कि ब्रह्मज्ञान, जीव स्वयं ठीक तौर पर उपलब्ध नहीं कर सकता, उन का यह कथन अपूर्ण है। कारण कि उन के कहने से पाया जाता है कि सांसारिक ज्ञान जीव स्वयं प्राप्त कर सकता है। उक्त दर्शन कार इस का खंडन करते हैं। हमारे विचार में यही आता है कि सब प्रकार के शब्दों तथा उन के अर्थों का ज्ञान जीव को ईश्वर प्रेरणा से आदि काल में मिलता है। यह कभी नहीं हो सकता कि सांसारिक शब्द और उन का ज्ञान तो जीव स्वयं प्राप्त कर ले और केवल ब्रह्मविद्या संबंधी शब्दों तथा उन के बोधक ज्ञान के लिये ईश्वर की प्रेरणा उस को हो।

× Dr. Flint.

कई भद्रपुरुष प्रश्न किया करते हैं कि यदि वेद में ही संपूर्ण ज्ञान मान लोगे तो मानवी उन्नति रुक जावेगी ? इस के उत्तर में हम कहेंगे कि चारों वेदों में अभ्युदय तथा मुक्ति संबंधी सब ही बातों का उपदेश **बीजवत्** है। वादी प्रश्न करता है, कि बीजवत् ज्ञान हमारे आक्षेप से बचने के लिये आप कल्पित करते हैं। क्या किसी पुराने ऋषिने ऐसी बात लिखीं ? इस के उत्तर में हम मानव-धर्मशास्त्र का उपरोक्त वचन भेंट करेंगे कि देखो मनुजी लिखते हैं कि " वेदोऽखिलो धर्म मूलम् " अर्थात् संपूर्ण वेद धर्म का मूल है। धर्म शब्द के अर्थ तथा लक्षण आप ऊपर देख चुके हैं, अब केवल **मूल** शब्द पर विचार करना है । जिस को संस्कृत में मूल कहा गया है, उसी को कारण, तथा बीज निस्संदेह हम कह सकते हैं । इसी लिये विद्वद्वर्य्य श्री पण्डित **गंगाप्रसाद** एम. ए. डिपटी कलैकटर गढ़वाल, ने एक स्थल पर ब्राह्मण ग्रन्थ के आधार से उत्तम रीति से दर्शाया है कि "अनन्तावै वेदाः" अर्थात् ज्ञान अनन्त है।

यदि ज्ञान अनन्त न होता, तो फिर बीजवत् सत्य विद्या (वेद) को मनन द्वारा किस प्रकार ऋषिमुनि, उपवेद, वेदाङ्ग का रूप दे सकते ? विद्यावृक्ष को पत्तों, फूलों और फलों से युक्त मनुष्य ने बनाया और बनाएगा, पर उस वृक्ष का मूल, वेद ही है और रहेगा। शाखा ग्रन्थ इसी लिए बने थे।

(२) मनुष्य अल्पज्ञ तथा रागद्वेषसे युक्त है, सत्यज्ञान का स्वरूप विना सहाय विशेष के यह निश्चय नहीं कर सकता। इस का तर्क भ्रान्त है या नहीं, इस का निर्णय करना कभी कभी मनुष्य समाज को भी कठिन हो जाता है। जब नीचे के न्याया-धीश भिन्न भिन्न मत रखते हों तो किसी पूर्ण वरिष्ट न्यायाधिशी

(Perfect High Court) के समान सच्चा और अन्तिम निर्णय किस का मानें ? क्या हम नहीं देखते कि आज संसार में कई पढ़े लिखे सज्जन डारविन मत को ठीक मान रहे हैं और कई विद्वान् इस के विपरीत मत रखते हैं । ऐसी दशा में

परम प्रमाण

किस का माना जावे ?

इस का उत्तर मानव धर्म शास्त्र में यह दिया गया है कि

धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः

(मनु० अ० २ श्लो० १३)

अर्थात् जिज्ञासा करने वालों को श्रुति (वेद) ही परम प्रमाण समझनी चाहिये । वेद का पुरुष सूक्त जब डारविन के व्यक्तिविकार और क्रूरवाद के विरुद्ध है तो निश्चय जानिये कि डारविन मत भ्रान्त है ।

जिस को परम प्रमाण कहा गया है, उसी का दूसरा नाम स्वतः प्रमाण है । केवल एक वेद ही स्वतः प्रमाण है अन्य सब आर्ष ग्रन्थ परतः प्रमाण हैं ।

जो लोग कहते हैं, कि ईश्वरीय ज्ञान वेद को परम प्रमाण मानने की क्या ज़रूरत है, जिस में हम को लाभ वा सुख मिले, वही हमें करना चाहिये ? ऐसे पुरुष यह नहीं जानते कि यदि हम इन्द्रियों के अनुगामी हो जावेंगे तो युवा पुरुष विषया सक्त हो आयु तथा मेधाहीन हो नष्ट भ्रष्ट हो जावेंगे । मर्य्यादा पूर्वक सर्वाङ्ग उन्नति का मार्ग पाना अति दुर्लभ है । डाक्टर कैलोग का कथन है कि अमेरिका निवासी अभी तक पूर्ण स्वास्थ्य को नहीं प्राप्त

हुए और चार पीढ़ियों तक आशा करते हैं कि वह उत्तम आरोग्य युक्त सन्तान को पैदा कर सकेंगे। भारत को पांच पीढ़ियां उस काम के लिये चाहियें। यह इस लिये कि भूगोल ने वेद को परम प्रमाण नहीं माना इस लिये स्वास्थ्य ही खो बैठे। और मद्य मांस सेवन करते हुए बाल विवाह आदि कुरीतियों में फंस रहे हैं।

जब लोग वेदों को परम प्रमाण मानते थे तब वह सदाचार का आधार इस प्रकार मानते रहेः—

ईशा वास्यमिद२ऀ सर्वंयत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम्॥

(यजु० अ० ४० मं० १)

(भावार्थ) १. एक सर्व व्यापक ईश्वर है.
२. उसने पदार्थ दान कर रक्खे हैं
३. इन पदार्थों को भोगो पर
४. किसी का धन मत लो

जब वैदिक संस्कृत का पढ़ना छूटा और वेद परमप्रमाण हैं यह मानव समाज भूल गया, तो उक्त ४ बातों की जगह केवल अन्त की दो बातें रह गईं अर्थात् भोगों को भोगो पर किसी की हिंसा मत करो इस का नाम बौद्ध वा जैनमत हुआ। समाज का सदाचार स्थिर रहा, पर ऐसा क्यों करें, इस का उत्तर जो मंत्र के पहिले भाग में दिआ हुआ था, उस को भूल जाने से मन अशान्त रहने लगा; संशय बढ़ गये। इसी अध्याय में कहा गया है कि जो आत्मा तथा ईश्वर का ज्ञान पाता है वह "विचि-कित्सा" मन की संशयावस्था को नहीं पाता।

जैन वा बौद्धमत समाज में सदाचार फैलाते रहे, पर स्वयं संशयों में पड़ गये।

अब जो डारविन मत का प्रचार हुआ, यह बौद्ध वा जैन मत से बहुत गिर गया इस ने इस मंत्र के ३२ नियम भुला दिये केवल

गृधः कस्य स्विद्धनम्

इस का भावार्थ इस का नियम बन गया। कारण कि डारविन मत कह रहा है कि जिस की लाठी उस की भैंस, जब डारविन मत को समाज सुधारक बनाना होगा तो इस में "मा" यह शब्द लगाने होंगे। जब यह "मागृधः कस्य स्विद्धनम्" कह कर बौद्ध वा जैन मत बन जावेगा तब "ईशावास्य..." इत्यादि वाक्य इस को समझा कर संशय रहित सच्चा आस्तिक वा वैदिक आर्य्य बनाना होगा। आदि ब्रह्म समाज के प्रवर्त्तक महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, को इसी संपूर्ण मंत्र ने उन के सर्व संशय मिटा कर सच्चा आस्तिक बना दिया। अब उन के वंशज भारत कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर भूगोल को आस्तिक बनाने के लिये "**साधन**" नामी ग्रन्थ लिख चुके, जो इस तथा अन्य मंत्रो की व्याख्या नहीं तो क्या है?

(३) कई लोग प्रश्न करते हैं कि महाभाष्य में "**शन्नोदेवी**" यह मंत्र अथर्ववेद का प्रथम दिया हुआ है और आजकल जितने भी छपे हुए वेद पुस्तक मिलते हैं, उन में यह उसस्थान पर नहीं। इस के उत्तर में हम यह कहेंगे कि वेद श्रुति का नाम है, अर्थात् वेद शब्दमय ज्ञान है। श्रुति और वस्तु है, और वेद पुस्तक जो कागज़ों से बनी है वह और है। श्रुति वा

सत्यविद्या का आदिमूल परमेश्वर है, जैसा कि आर्य्यसमाज के प्रथम नियम में लिखा है।

सत्यविद्याओं के पुस्तक वेद हैं, वह पुस्तक ईश्वरमूलक नहीं, और ऐसा ही तीसरे नियम में पुस्तक को ईश्वर मूलक नहीं कहा गया। इसलिये वेदका एक शब्द भी जगत् से नष्ट नहीं हुआ और न होगा। पुस्तकों में मंत्र आगे पीछे छप सकते हैं, पर श्रुति रूपी वेद जो ईश्वर मूलक हैं, उन में कोई दोष कभी नहीं आ सकता।

(४) आज संसार में एक देश वाला अपने प्रेम को दूसरे देश की सीमा में ले जाना भ्रान्ति से पाप मान रहा है। पर वेद "सर्वा आशाः मम् मित्रं भवन्तु" (अर्थात् सब दिशाएं मेरी मित्र हों) का उपदेश देते हुए मनुष्य मात्र से प्रेम करना सिखलाते हैं। आज एक कल्पित मत वाला दूसरे कल्पित मत वाले से घृणा करता है, पर वेद केवल **सत्य** को व्रत बतलाते हुए घृणा के कारण को निर्मूल कर रहे हैं।

(५) मुक्ति के लिये भिन्न भिन्न लोग भिन्न भिन्न कल्पित उपाय मान रहे हैं, पर वेद नान्यः पन्था विद्यते — — — यह कह कर केवल **ब्रह्मज्ञान** ही मुक्ति का अन्तिम साधनबतलाता है।

(६) जिस प्रकार एक उत्तम शब्द कोष होता है, वैसे ही चारों वेदों के शब्द यदि कोष रूप में रखे जावें तो एक उत्तम संस्कृत शब्द कोष बनाते हैं। इस का भाव यह है जैसा कि मनु के १ अध्याय में लिखा है, वेद "वाचं" शब्दों का भंडार हैं।

(७) जिस प्रकार एक उत्तम विश्व विद्याकोश (Encyclopœdia) सर्व विद्याओं का बोधक होता है उसी प्रकार मानवोन्नति के सम्पूर्ण अङ्ग ज्ञान, कर्म, उपासना तथा विज्ञान रूप से ऋग्यजुः साम और अथर्व नाम से हैं।

(८) वेद के अर्थ जैसा कि महा मुनि कणादजी का कथन है, बुद्धि पूर्वक या निरुक्त के शब्दों में तर्क युक्त होते हैं, और इसी लिए एक मात्र सत्य ज्ञान के प्रति पादन करने वाले हैं।

(९) मानव सभा तथा उन्नति के सम्पूर्ण अङ्ग वेद इस उत्तमता से दर्शा रहे हैं कि यदि उन के अनुसार मानव जाति चले तो निःसंदेह स्वस्ति और शान्ति की मात्रा का अधिक प्रचार होने से मानव जाति धर्म अर्थ काम और मोक्ष को सिद्ध कर सके।

मनुस्मृति अध्याय बारह श्लोक ९४ में मनुजी **पितृदेव मनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्**--पितर (कर्म काण्डी) देव (विज्ञानी) और मनुष्यों की वेद सनातन आंख है ऐसा वर्णन करते हैं। आगे ९६ श्लोक में कहा गया है कि वेद से अन्य मूलक जो कुछ ग्रन्थ हैं वह उत्पन्न और नष्ट होते हैं वे अर्वाक्काल के होने से निष्फल और असत्य हैं अर्थात् जो वेद से प्रमाणित हैं वही प्रमाण हैं।

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिर्गुणकर्मतः॥

(मनु० अ० १२, ९७, ९८)

भावार्थः---चार वर्ण, भूमि लोक, अन्तरिक्षलोक, और आदित्य लोक, अलग अलग चार आश्रम तथा भूत भविष्यत् वर्तमान सब वेद ही से जाना जाता है ॥ ९७ ॥ शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इन पांचों का ज्ञान वेद से ही आरम्भ हुआ । अर्थात् बेद भौतिक विद्या (Sciences) के भण्डार हैं

(प्रश्न) कई प्रश्न करते हैं कि वेद पुस्तक में पुनरुक्ति दोष है । इस लिए यह ईश्वर मूलक नहीं हो सकते ।

(उत्तर) विदित हो कि वेद पुस्तक किसी भी दशा में ईश्वर मूलक नहीं हो सकते किन्तु वैदिक शब्दमय ज्ञान ही ईश्वर मूलक है । यदि वेद पुस्तक में आप के विचारानुसार पुनरुक्ति न होती, तो भी यह वैदिक सिद्धान्तानुसार पुस्तक होने से ईश्वर मूलक न होते । पुस्तक के उत्तम तथा माननीय होने में यह आवश्यक है कि वह उस शब्दमयज्ञान ज्ञान के जो कि ईश्वरीय है ठीक ठीक बोधक हों । वेद पुस्तक में पुनरुक्ति होने से ईश्वरीय ज्ञान में कदाचित् आप पुनरुक्ति सिद्ध करना चाहते हैं । पर वास्तव में बात यह है कि वेद पुस्तक में पुनरुक्ति दोष नहीं है । हां ताकीद के तौर पर पुनरुक्ति है, पर वह व्यर्थ पुनरुक्ति नहीं, व्यर्थ पुनरुक्ति दोषवाला ग्रन्थ अमान्य हो सकता है, युक्त पुनरुक्ति वाला कभी नहीं ।

जब कोई स्वामी नौकर को कहता है कि जल्दी जा जल्दी जा तो ऐसी दशा में यदि कार्य महत्त्व का है तो उस का यह कथन व्यर्थ पुनरुक्ति नहीं कहला सकता किन्तु सार्थक पुनरुक्ति होने से चितावनी (ताकीद) का काम देता है । कोई बाप वा गुरु यदि अपनी संतान वा शिष्यों को किसी विषय संबन्ध में विशेष ध्यान

दिखाना चाहता है तो वह कहता है कि पुस्तक के **अमुक लेख** के नीचे लाल स्याही से लकीर खेंच दो अथवा मुद्रणालय में पुस्तक छपाते समय वह अमुक शब्दों को मोटा छपाते हैं। मोटा छपवाना अथवा नीचे लकीर डलवाना दोनों ही उचित पुनरुक्ति वा चितावनी का काम करते हैं। यही उत्तम प्रथा हम वेद पुस्तकों में पाते हैं। देखिए "**यज्जाग्रतो दूर मुदैतिदैवं**........" इत्यादि छ मन्त्रों के पीछे यजुर्वेद में ६ वार **तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु** यह शब्द ६ वार ही आते हैं, इन को कभी कोई व्यर्थ पुनरुक्ति नहीं कह सकता, कारण कि हम जानते हैं कि मनुष्य का मन बिजली से भी बढ़ कर चञ्चल होने से दृढ़ नहीं होता। इस मनुष्य को शिवसङ्कल्प वाला बनाने के लिए २९ वर्ष का ब्रह्मचर्य्याश्रम २५ वर्ष का गृहस्थ और २५ वर्ष का वानप्रस्थ पूर्ण कहा जा सकता है। कविता जो बालकों को कंठ कराई जाती है। उसका एक मात्र उद्देश्य शिक्षण शास्त्री यही बतलाते हैं कि कुछ सच्ची बातें रोचक शब्दों द्वारा मनोहर आलाप से बार बार कंठ कराने से विद्यार्थी के मन में बस जावे। इस लिए **प्राची दिगग्नी....** इत्यादि ६ मंत्रों में जो ६ वार '**तेभ्यो नमो**....तथा **योऽस्मान् द्वेष्टि**....इत्यादि ६ बार कहा गया है, वह बहुत ही आवश्यकीय है, कारण कि यदि मन द्वेश करना छोड़ देवे तो संसार स्वर्गधाम बन जावे। मिशनरी (Missionary) लोग डाक्टर बन परसेवा से विज्ञान को सफल करते हैं। प्रत्येक विद्वान् जन समाज उपयोगी विद्याओं तथा मंत्रों के प्रचार करने से अपनी विद्या को सफल करते हैं। **बुद्धदेव** ने इन्हीं मंत्रों के भाव को जीवन में चरितार्थ कर के दिखा दिया। वह रक्त की नदियां जो भ्रान्त मनुष्य क्षुधानिवृत्ति के

लिए नहीं पर तृष्णा की पूर्त्ति के लिए बहारहा है आज रुक जाएं यदि विद्वान् लोग उस बातको आवश्यक समझें। किस प्रकार से विद्वान् इस बातको ज़रुरी जानें उसके लिए जगदीश्वरने ताकीदी प्रेरणा पितावत् ऋषियों के हृदय में की थी जिस को बोधन कराने के लिए आज यह मंत्र ६ वार वेद पुस्तक में लिखे हुए पाए जाते हैं। कोई कह सकता है कि गायत्री मंत्र अथवा अमुक मंत्र अनेक वार वेदों में मिलता है। हम कहेंगे कि उसका वहां पर पाया जाना बहुत ठीक है, वहां वह विशेष प्रयोजन को पूरा करने के लिए दोहराया गया है।

कोई कहता है कि ऋग्वेद के अनेक मंत्र अन्य तीनों वेदों में मिलते हैं, हम कहेंगे कि इन का वहां पर होना उद्देश्य विशेष की पूर्त्ति के लिए है व्यर्थ नहीं। कोई कहता है कि सामवेद में बहुत थोड़े मंत्र नए हैं, विशेष तो ऋग्वेद ही भरा है इस के उत्तर में हम कहेंगे कि गान विद्या का उपदेश देने के हेतु से ऐसा हुआ है ऋग्वेद के एक मंत्र को सामवेद में जो उद्धृत किया है तो वहां ऋग् का साम बना दिया है, अर्थात् गायन पद्धति अनुसार उस पर आलाप चिन्ह (Notations) लगा दिए गए हैं, जिन की आवश्यकता आज युरुप की संगीत मंडली को प्रतीत हुई है, इसी वर्ष कुछ मास हुए कि गत होलियों में जो बड़ोदा में भारतवर्षीय संगीत महासभा का अधिवेशन हुआ था तो उस समय बंबई गन्धर्व महाविद्यालय के आचार्य श्री विष्णु दिगम्बर ने उत्तमता से सिद्ध कर दिखाया था कि सामवेद में पहिले से ही नोटेशनस (Notations) मौजूद हैं, जिन के लिए आज हम यत्न करना अपना उद्देश्य समझते हैं।

यदि प्रश्न कर्त्ता सामवेद पर विचार करे तो उस को मालूम हो जायगा कि सामवेद में जितने भी मंत्र हैं, वह गायन पद्धति से रचे गए हैं और उसका उपदेश करने के लिये हैं। एक श्लोक को अनेक रागों में रागी गा कर कृतार्थ होते हैं, पर उन का ऐसा करना उस श्लोक की व्यर्थ पुनरुक्ति नहीं कहला सकती।

कोई प्रश्न करता है कि पहिले ऋग्वेद हुआ फिर दूसरे वेद ऋषियों ने बना लिए?

(उत्तर) जब रसल वैलेस (Russel Wallace) और डारविन को क्रमबद्ध सृष्टि होनी चाहिए यह विचार एक ही समय में हुआ माना जाता है तो चार ऋषियों को चार वेदों की पृथक् पृथक् स्फुरणा तथा प्रेरणा क्यों नहीं मानी जावे? डा० बोस और मैकरोनी को एक ही काल में भिन्न भिन्न देशों में बे तार (Wireless telegraphy) की तार की स्फुरणा हुई वा नहीं?

(प्र०) वेद को ज्ञान की पूर्ण पुस्तक मान लेने से आगे नए ग्रन्थ रचने बन्द हो जावेंगे?

(उत्तर) ११ हज़ार से अधिक ग्रन्थ पूर्व काल में वेदों की नाना विद्याओं के प्रचारार्थ ऋषियों ने रचे थे वा नहीं, जो वेदों की शाखाओं के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस लिये मानव ज्ञान की वृद्धि कभी नहीं रुक सकती, आप भय न करें स्वयं वेद संवाद करने की आज्ञा देते हैं, जो ज्ञान वृद्धि तथा अनुसन्धान का साधन है।

(प्र०) यदि कई वेद मंत्र लुप्त हो गये हों तो यह वद पुस्तक अपूर्ण होंगे?

(उ०) यदि कहने से आप का प्रश्न ठैर नहीं सकता । हम कहते हैं, कि नहीं लुप्त हुए । आप के पास क्या प्रमाण है, कि लुप्त हुए ?

बज्रसूची आदि ग्रन्थों द्वारा वेदों के मंत्रों की संख्या की रक्षा की गई है और सब से बढ़ कर दक्षिण देश में सैंकड़ों वेदपाठी ब्राह्मण, वेदों को कंठ कर के सुरक्षित रख रहे हैं । यदि इन का सत्कार होता रहा तो इन जीते जागते पुस्तकालयों में वेद क्यों न सुरक्षित रहेंगे ?

मैक्समूलर के लेख से जो उसने " फीज़िकल रीलिजन " नामी पुस्तक में लिखा पाया जाता है, कि किस प्रकार वेद पाठियोंने वेद सुरक्षित रक्खे हुए हैं । इस लिये यदि प्रश्न कर्त्ता को यह मालूम होता कि वेदपाठी अपने प्राणों से बढ़कर वेद की रक्षा करते हैं, तो वह कभी ऐसा प्रश्न ही न करते ।

महाशय फ्रोबेल तथा देवी मोन्टोसरी ने शिक्षण कला में नए नए परीक्षण कर, शिक्षणकला की युरुपादि देशों में काया ही पलट दी है । वहां शब्द का जब तक अर्थ के साथ अध्यापक संबंध न कर दिखावें, तब तक बालकों के लिये शिक्षण अपूर्ण ही समझा जाता है । बाल्यावस्था में जितने प्रश्न करके एक बालक उन के उत्तर प्राप्त कर ज्ञान की वृद्धि करता है, उतने वेग से शेष आयु में कभी नहीं कर सकता । युरुपादि में आज कल अबोध, सरल, पवित्रात्मा बच्चों को सिखाने वाले देवताशिक्षक केवल इस बात का भारी ध्यान रखते हैं, कि बच्चे को धोखा न दिया जावे अर्थात् **सत्यार्थ के स्थान में कभी मिथ्यार्थ न सिखाया जावे ।**

अमेरिका में यदि एक बच्चा मां से पूछे कि तोते का रंग कैसा है, तो वह हरा कहेगी, यदि वह पूछे कि घास का रंग कैसा है तो भी हरा ही कहेगी। यदि वह बालक विद्यालय में गुरु से जा कर पूछे कि तोते, तथा घास का रंग कैसा है, तो एक ही उत्तर, यह मिलेगा कि, वह हरें हैं। उधर जितने भी तोते जबजब उस के दृष्टिगोचर होंगे वह भी एक ही रंग के होंगे।

उस अर्थ को जो सदैव विद्यमान रहे, सत्यार्थ, कहते हैं, जिज्ञासु बालक अनुभव करता है कि तोता हरा और घास भी हरा है। फिर कुछ और आयु के बढ़ने पर वह समझ सकता है कि किन बातों में तोता और घास मिलते हैं और किन में नहीं। अब अमेरिका के देवता शिक्षक प्रतिज्ञापूर्वक यह कह सकते हैं कि हम शिक्षण समय छात्रों को धोखा नहीं देते। भारत में यदि मूर्ख बाप बच्चे को तोते का रंग हरा बतलाता हुआ यदि घास का रंग लाल कह दे, और अन्त को बच्चा औरों से घास का रंग हरा सुन बाप से पूछे कि सत्यार्थ क्या है, तो बाप हंस कर कह देगा कि मैंने तुझ से मसखरी की थी, कभी घास लाल हुआ? यह बाप कभी प्रायश्चित नहीं करेगा कि मैंने क्या अनर्थ किया? ऐसी दशा में जैसी कि आजकल भारत में है, क्या ईश्वर उस बच्चे का साथ छोड़ सकते हैं जिस ने भारत में जन्म लिया है? नहीं कभी नहीं। ईश्वर ने पांच ज्ञान इन्द्रिय, मन और बुद्धि, सात विद्यारक्षक एक अमेरिकन बालक को जहां दिये हैं, वहां यही सात पवित्र ऋषि भारतीय बालक को भी दिये गए हैं। भारत की माताएं वा बाप, चाहे जिज्ञासु बालकों को शिणक्ष में धोखा दें लें, पर यह सात ऋषि बच्चे के स्वाभाविक रक्षक कभी उस को धोखा नहीं दे

सकते। भारत के गुरु, बाप और मां मिथ्यार्थ बतला सकते हैं, पर विश्वव्यापक ईश्वर के "सप्त ऋषि" बच्चे को भला धोखा दे सकते हैं ? किसी भारतीय बालक को लाख लालच देकर आप कभी उस के मन से यह नहीं मनवा सकते कि तेरे हाथ की पांच उंगलियां नहीं हैं। वह भय का मारा कह देगा कि मेरे हाथ की उंगलि जितनी आप कहते हो, उतनी ही हैं, पर जब मिथ्यार्थ बतलानेवाला गया तो बच्चा अपने मन में कहेगा कि पांच उंगलियों को यह न्यूनाधिक क्यों कहता है ? वह इस संशय की निवृत्ति के लिये कदाचित् वर्ष भर सौ पुरुषों से पूछे कि क्यों जी आप के हाथ की उङ्गलियां कितनी हैं ?

हाय ! आज भारत की दशा कैसी मंद है ? वेद के एक मंत्र के अर्थ किसी से पूछो वह कहेगा कि अमुक भाष्य में ऐसे लिखे हैं ? जिज्ञासु प्रश्न करता है कि महाराज वह तो बुद्धि में नहीं आते। उपदेशक कहता है कि तू नास्तिक होगया, तेरी वेदों पर श्रद्धा नहीं रही जा चुप हो जा, नहीं तो अभी न्याति से बाहिर करा दूंगा।

यदि हम भारत के प्राचीन साहित्य का अनुसन्धान करें, तो निश्चय होता है कि जो अवस्था आजकल अमेरिकादि उन्नत देशों की है, सचमुच वही पुराने भारत की थी। उस पुराने काल में वेदों के सत्यार्थ, केवल वह नहीं माने जाते थे, जो किसी वक्ता विशेष ने कह दिये, किन्तु जिन के सत्य होने की साक्षी जिज्ञासु का बुद्धि रूपी अन्तर ऋषि भी दे सके।

हमारे हर्ष की कोई सीमा नहीं रहती जब हम वैशेषिक दर्शन छटे अध्याय के प्रथम सूत्र में यह पाते हैं कि

बुद्धिपूर्वा वाक्य कृतिर्वेदे

(अर्थ) " वेद में वाक्य रचना, बुद्धि पूर्वक है, अर्थात् वेदों में कोई वाक्य ऐसा नहीं है, जो बुद्धि के विपरीत हो, जैसा कि मनुष्यों की वाक्य रचना में कभी कभी हो जाता है "

वैदिक ऋषि के इस सूत्र ने दर्शा दिया कि वेद का वही सत्य-अर्थ है, जो बुद्धि पूर्वक हो । वेदार्थ पर जितने भी आज शास्त्रार्थ होते हैं उन का निर्णय इन दो बातों से हो सकता है—

(१) एक तो यह, कि, वैदिक शब्द यौगिक हैं
(२) दूसरे यह कि वेदार्थ बुद्धि पूर्वक हैं ।

इन ही दो नियमों को लक्ष्य में रख कर जिज्ञासुओं को वेदार्थ पर विचार करना होगा । इन ही दो नियमों का अवलंबन कर महर्षि दयानन्द ने सूत्रवत् अपना वेद भाष्य रचा था । इन ही दो नियमों पर चलते हुए पुराने आर्ष ग्रन्थ वेद के अद्भुत व्याख्यान बन रहे हैं । इन ही दो नियमों के आधार पर हम नीचे का लेख आप के समक्ष अर्पण करते हैं ।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
सभूमिंᳫ सर्वतं स्पृत्वा त्यंतिष्ठद शाङ्गुलम् ॥ १ ॥

शब्दार्थपर विचारः—सहस्र के अर्थ संस्कृत कोष " शब्द स्तोम महानिधि " में " बहु संख्यायाम्, दश-शत संख्यायाम्-तत् संख्यान्वितेच " अर्थात् बहुत-संख्या में, एक सहस्र, बहुत संख्यावाला, यह हैं । इस से आगे उसी कोष में " सहस्रकर " शब्द पड़ा हुआ है, जिस के अर्थ " सहस्रंकराः किरणा अस्य ।

सूर्य्य " अर्थात् सहस्र हैं, किरणें जिस की । सूर्य्य । यहां भी सहस्र शब्द से असंख्य वा अनन्त किरणों का ग्रहण है ।

सहस्रशीर्षा का एक अर्थ १ हज़ार शिरवाला, दूसरा अर्थ " बहुत संख्यावाला " होते हैं । प्रसंगानुसार यहां बहुत शिर-वाला अर्थ ठीक है और " सहस्र " शब्द पर विचार करते हुए अनन्त शिरवाला अर्थ अधिक ठीक हो सकते हैं । रहा यह प्रश्न कि ईश्वर के अनन्त शिर हो सकतें हैं वा नहीं ? हम कहेंगे कि नहीं, कारण कि **योगदर्शन में** जो उपासना शास्त्र है, ईश्वर का लक्षण यह कहा गया है कि

क्लेशकर्मविपाकाशय परा मृष्टा पुरुष विशेष ईश्वरः ।

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, मृत्युभय इन पांच **क्लेशों** से रहित, तथा शुभाशुभ **कर्मों** से, उन के सुखदुःखादि **कर्मफलों** से, **आशय** (वासना) से जो रहित है, वह **पुरुष विशेष**, ईश्वर है ।

वेद के पुरुष सूक्त में इसी पुरुष विशेष का वर्णन अनेक मंत्रों में आता है । चाहे उस के अनन्त शिर मानें जावें, पर वह मृत्यु भय से मुक्त नहीं हो सकता, और योगदर्शन के बुद्धिपूर्वक किये हुए प्राचीन लक्षण से विरुद्ध अर्थ हो जावेंगे । हम सब की बुद्धि भी इस अर्थ को स्वीकार नहीं कर सकती । वेदान्त दर्शन में तो ब्रह्म का लक्षण

जन्माद्यस्ययतः

कह कर किया गया है । इस का अर्थ यह है कि ब्रह्म वह है जिस से सब विश्व का जन्म होता है । विश्व को जन्म देने वाली शक्ति निराकार और सर्वव्यापक ही हो सकती है ।

इस लिये यहां सहस्र शीर्षा का असंख्य शिर वाला और शिर की उपमा से ज्ञान वाला अर्थ ही उत्तम हो सकता है।

श्रीयुत पण्डित भीमसेनजी इटावा निवासी ने ब्राह्मण सर्वस्व नामी मासिक पत्र में कई वर्ष हुए, तो ऐसा ही अर्थ किया था, जो हम ने ऊपर दर्शाया है।

सहस्रपाद के अर्थ भी उन्हों ने इसी प्रकार दर्शाए थे कि पाद क्रिया का करण वा साधन है, जिस में अनन्त क्रिया हो वह सहस्रपाद है।

सहस्राक्षः के अर्थ अनन्त आंख वाले के हैं। कोष में अक्षि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है "अश्नुते विषयान्" अर्थात जो विषयों को व्याप्त करे। अशु व्याप्तौ संघाते च। इस से अशु धातु व्याप्ति और समूह अर्थ में आता है, अतः अक्षि (आंख) से तात्पर्य्य नेत्र का है, कि वह विषयों को ग्रहण करता है। ईश्वर में दो प्रकार की ज्ञानशक्ति है पहिली तो वह जो उस के स्वरूप में विचार रूप से है। दूसरी वह जो उस के स्वरूप से पृथक् (पर उस में व्याप्त रहे हुए) प्रकृति और जीव के गुण कर्म स्वभाव जानने की शक्ति है। इस से दूसरे शब्दों में ईश्वर को अन्तर्यामी कहते हैं। मानवी शिर सोचने, वा विचार करने का करण है, हम जो काम करते हैं, पहिले मन में जिस का शिर साधन है, सोच लेते हैं। ईश्वर अनन्त ज्ञानमय शक्ति है इस लिये इसी संसार की रचना सप्रयोजन है। ईश्वर के इस अनन्त ज्ञानमय स्वरूप का बोधन वेद का अद्भुत शब्द

सहस्रशीर्षा

करा रहा है।

सृष्टि में नियमपूर्वक वा प्रयोजनयुक्त रचना क्यों पाई जाती है ? इस का उत्तर यह है कि ईश्वर अनन्त ज्ञानमय शक्ति है। प्रकृति और जीव ईश्वर से भिन्न पदार्थ हैं, और उन के गुण कर्म स्वभाव को जानने की शक्ति ईश्वर में होने से उस को सहस्राक्षः मंत्र में कहा गया है। नेत्र अपने को नहीं देखते, किन्तु अपने से भिन्न पदार्थ को देखते हैं । इस शक्ति से युक्त होने के कारण ईश्वर को सहस्राक्ष कहना अति उचित है।

सहस्रपाद कहने से तात्पर्य अनन्त गति के भंडार से है। पाद का धर्म एक स्थल से दूसरे स्थल पर पहुंचना है। ईश्वर सर्वगत तथा सर्व क्रिया का भंडार है इस लिए उस को वेद के भावपूर्ण शब्द में सहस्रपाद कहा गया है ।

कोई आशंका कर सकता है, कि इस मंत्र में ईश्वर की भुजा का तो वर्णन ही नहीं किया, इस के उत्तर में हम कहेंगे कि ईश्वर जो कि निराकार सर्वव्यापक शक्ति है उस का कोई भौतिक शरीर वर्णन करने का उद्देश्य वेद मंत्र में नहीं। यदि होता तो निश्चित जानिये कि सिर के पीछे आंखें, और आंखों के पीछे नाक, फिर मुख, कंठ, छाती, पेट, जंघा, भुजादि का वर्णन होता परंतु यहां तो उद्देश्य उस को **ज्ञानमय** तथा **गति का भंडार** दर्शाने का था। इसीलिए शिर आंख के दृष्टान्त के पीछे पग का दृष्टांत दिया गया। यदि मानवी पुरुष के समान कोई चित्र घड़ने का प्रयोजन होता तो ऐसा अपूर्ण चित्र न खींचा जाता। क्या वह चित्र जिस में सिर, आंखे और पग ही हों, कभी पूर्ण वा सुन्दर चित्र कहलाने के योग्य है ? एक शिरवाले पुरुष की दो आंखें होती हैं, और पग भी दो। इस दृष्टि से यदि कोई सहस्रशीर्षा का अर्थ

एक हज़ार सिरवाला ले, तो उस दशा में दो हज़ार नेत्र और दो हज़ार पगवाला मानना पड़ेगा। पर वेद ने जब सहस्र सिर के साथ सहस्राक्ष और सहस्रपाद कहा तो निश्चित जानिये कि वेद का तात्पर्य अलंकार द्वारा उस सूक्ष्म शक्ति को ज्ञानमय और गतिमय दर्शाने से है।

अब हमें इस मंत्र में ही नहीं किन्तु इस सूक्त में आये हुए 'पुरुष' शब्द के सम्बन्ध में विचार करना है। यद्यपि पुरुष शब्द मनुष्य जाति के 'नर' का बोधक है पर ईश्वर जो कि सूक्ष्म से भी सूक्ष्म एक मात्र निराकार सत्ता है, उस में नर वा नारी की वास्तविक कल्पना करना भ्रम है। महर्षि यास्काचार्य प्रसिद्ध निरुक्तकार ने पुरुष शब्द की जो निरुक्ति की है उस के पढ़ने से सिद्ध होता है कि पुरुष शब्द के अर्थ सर्वव्यापक के हैं यथा

पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा।

(निरुक्त अ० २ ख० ३ सूत्र १)

इस में 'पूरयतेर्वा' शब्द की व्याख्या टीकाकार श्रीदुर्गाचार्यजी इस प्रकार करते हैं। "पूर्णमनेन पुरुषेण सर्व गतत्वात् जगदिति पुरुषः" जिस का अर्थ यह है। "सबों में व्यापक होने से जिस से सब जगत् पूर्ण है इस लिये वह पुरुष है।"

सः (वह)। भूमिम् (पृथिवी के प्रति)। सर्वतः (सब ओर से)। स्पृत्वा (व्याप्त हो कर) अत्यतिष्ठद् (उल्लंघन कर के रहा) दशाङ्गुलम् (हृदयस्थ जीव को)

(भावार्थ) अनन्त ज्ञानमय है, सर्वव्यापक हैं, अनन्त द्रष्टा और अनन्त गतिवान् है। वह पृथिवी के प्रति, सब ओर से, व्याप्त हो कर, उल्लंघन कर के रहा, हृदयस्थ जीव को।

अफलातून से लेकर आजतक सब ही तत्त्ववेत्ता, यही कह रहे हैं, कि सर्वव्यापक, अनन्त ज्ञानी, अनन्त क्रिया के भंडार से यह विश्व उत्पन्न हुआ है । वही बातें वेद का उक्त मंत्र बतला रहा है । युरुप के वह विद्वान् जो विश्व की परम सत्ता ईश्वर को नहीं अनुभव कर रहे, उन्हों ने विश्व का रहस्य पाने का निष्फल यत्न किया । उपनिषदों को वेद का रहस्य कहते हैं । उपनिषदें एक मत से कह रही हैं कि

स्वाभावकी ज्ञान बल क्रिया च

अर्थात् ईश्वर में ज्ञान और क्रिया स्वाभाविक है । सायंस दान जो गति का कारण ढूंड रहे हैं, उन को उत्तर वेद दे रहा है कि ईश्वर ही गति का भंडार है ॥

पुरु॑ष ए॒वेद॑ᳬ सर्व॒ यद्भू॒तं यच्च॒ भा॒व्य॒म् ।

उ॒ताम॑ृत॒त्वस्येशा॑नो॒ यदन्ने॑नाति॒रोह॑ति ॥ २ ॥

(पुरुषः) व्यापक (ईश्वर) (एव) ही (इदंसर्वं) यह सब (यद्भूतं) जो हुआ (यच्चभाव्यं) जो है, और जो होगा (उस का) (उत) और (अमृतत्वस्य) मोक्ष का (ईशानः) स्वामी (है) (वह) (यत् अन्नेन) जो पृथिवी आदि के साथ अन्नहेतुत्वात् तस्याःअन्नत्वम् देखो शब्दस्तोममहानिधिः (अतिरोहति) उलंघन कर के रहता है ।

(भावार्थ) इस में बतलाया गया है कि विश्व भूत काल में उत्पन्न हुआ था अब हुआ और भविष्य काल में होगा अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलय का चक्र ईश्वर के नित्य

सामर्थ्य से नित्य चल रहा है। हरबर्ट स्पेन्सर यह नहीं बतला सका कि इस विश्व रचना का परम उद्देश्य क्या है? उस का उत्तर वेद मंत्र यह देता है कि जो ईश्वर भूत, वर्तमान और भविष्य काल में विश्व रचता है, वही ईश्वर मोक्ष (अमृत) का स्वामी है। वा यह कहो कि सृष्टि रचने का परम उद्देश्य जीवों को मोक्ष सुख तक ले जाना है। इस मंत्र में यह भी दर्शाया गया है कि वह ईश्वर अन्न का आधार, पृथिवि से परे महान् और अनन्त है।

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

(एतावान्) इतना (संसार), (अस्य) इस की, (महिमा) महिमा है। (अतः) इस से, (ज्यायान्) अतिशय महान्, (च पूरुषः) और परिपूर्ण है, (पादः) पाद (हैं), (अस्य) इस के, (विश्वा) सब, (भूतानि) पृथिवी आदि (चराचर जगत्), (त्रिपाद) तीन पाद (है), (अस्य) इस के, (अमृतम्) नाश रहित महिमा, (दिवि) अपने प्रकाशित स्वरूपमें.

(**भावार्थ**) इतना संसार इस की महिमा है और वह तो इस से भी अधिक महान् और परिपूर्ण है सब चराचर जगत् इस का एक पाद है और नाशरहित तीन पाद उस के अपने प्रकाश स्वरूप में हैं.

तीन पाद वाले जगत् से वह परे, वह प्रकाशमान व्यापक शक्ति है। इस का एक पाद बार बार उत्पन्न होता है। उस से विविध प्रकार से गतिमान् होता हुआ, व्याप्त होता है। खाने वाले (भोक्ता) और न खाने वाले (भोग्य) के प्रति ॥

व्याख्याः--यह विश्व जिस में अनन्त सूर्य्य, अनन्त चन्द्र, अनन्त पृथिवी, अनन्त तारादि हैं, यह मानो सर्व जगत् उस का एक पाद वा एक अंश है। और यही एक पाद बार बार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का चक्र काटता है। प्रश्न होगा कि क्या जितना यह विश्व एक पाद वाला है ऐसे ही तीन पाद वाली सीमा तक वह व्यापक होगा। वेद उत्तर देता है, कि नहीं, वह तीन पाद वाले जगत् से भी परे है अर्थात् उस की व्यापकता अनन्त है। क्या संसार के किसी विद्या ग्रन्थ में इस उत्तमता से ईश्वर के अनन्त व्यापक होने का वर्णन मिलता है? कहीं नहीं।

फिर इसी मंत्र में दर्शाया गया है कि यह एक पाद उसी ईश्वर से जो अनन्त गति का भंडार है, उस की गति को धारण करता है और यही गति सच मुच जगत् उत्पत्ति का कारण होती है। चमक पत्थर वा मणि जैसा कि कणाद ऋषि लिखते हैं स्वयं गति नहीं करती किन्तु अन्य पदार्थों को गति देती है। उसी प्रकार ईश्वर गति का भंडार होने से "मणिवत्" ब्रह्माण्ड को गति देता है। उसका यह गति देना ही ब्रह्माण्ड का रचना है।

ईश्वरदत्त गति न केवल ब्रह्माण्ड के रचने का ही कारण है, किन्तु भोक्ता और भोग्य पदार्थ इस गति का अन्तिम उद्देश्य हैं। भोक्ता और भोग्य पदार्थों का रचना व्यापकशक्ति (पुरुष) का ही काम है।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

(त्रिपाद) तीन पाद वाले जगत् से। (ऊर्ध्वः) ऊंचा

(परे) । (उदेत्) उदयको प्राप्त होता है । (पुरुषः) व्यापक । (पादः) एक पाद (अस्य) इसका (इह) यहां (अभवत्) होता है (पुनः) बारबार (ततः) उस से (विष्वङ्) विविध प्रकार से गतिमान् होता हुआ (व्यक्रामत्) व्याप्त होता है (साशनानशने) खाने वाले और न खाने वाले के (अभि) प्रति

(व्याख्या) पिछले मंत्र में वर्णन था कि ईश्वर त्रिपाद जगत् से भी परे है । स्वाभाविक प्रश्न होता है कि वह त्रिपाद जगत् क्या है ? इस का उत्तर मंत्र देता है कि वह नाश-रहित महिमा है, जो उस के प्रकाशमय स्वरूप में ही स्थित है । साथ ही मंत्र उस की अनन्त सत्ता, अनन्त व्यापकता और अनन्त सामर्थ्य का बोधन करा रहा है । यह दर्शाते हुए कि चराचर जगत् (विश्व) उस के एक पादवत् है और वह इस से अधिक महान् है ।

बड़े बड़े पण्डित कह रहे हैं कि ज्योतिष शास्त्र पढ़ने से पता लगता है कि कितने असंख्य सूर्य्य, कितने असंख्य चन्द्र और कितने अनन्त तारादि लोक लोकान्तर हैं ? ज्योतिषी यह भी कहते हैं कि जब तक कोई ज्योतिष शास्त्र का तत्त्व न समझ ले, तब तक वह ईश्वर की अनन्त महिमा, अनन्त शक्ति का अनुमान नहीं कर सकता । उक्त वेद मंत्र कह रहा है कि समस्त विश्व, उस ईश्वर की व्यापकता के आगे एक पाद वत् और फिर तीन पाद जो कि उस की नाश रहित महिमा है, वह इस समग्र विश्व वा एक पाद से परे हैं और ईश्वर तो इन तीनों पादों से भी परे व्यापक हो रहा है । क्या कोई ज्योतिश शास्त्र ईश्वर की अनन्त व्यापकता, अनन्त महिमा और अनन्त सामर्थ्य का इस मंत्र से बढ़कर कथन कर सकता है, कदापि नहीं ?

ततो॑ वि॒राड॑जायत वि॒राजो॒ अधि॒ पूरु॑षः ।
स जा॒तो अत्य॑रिच्यत प॒श्चाद्भूमि॒मथो॑ पु॒रः ॥ ५॥

(ततः) उस से । (विराट्) उदय होता हुआ (बढ़ता हुआ) तेज । (अजायत) उत्पन्न हुआ । (विराजः) उस उदय होते हुए तेज से । (अधिपूरुषः) प्रधान तेज वा सूर्य्य । (अजायत) उत्पन्न हुआ । (स) वह प्रधान तेज । (जातः) उत्पन्न हुआ । (अतिरिच्यत) पृथक् हो गया । (पश्चात्) अनन्तर । (भूमिम्) भूमिको । (अथो) पीछे । (पुरः) बसने योग्य स्थान को । (उत्पन्न किया)

(भावार्थ) उस से बढ़ता हुआ तेज उत्पन्न हुआ उस तेज से सूर्य्य वह सूर्य्य उत्पन्न होकर पृथक् हो गया । पीछे भूमि उत्पन्न हुई और उस से पीछे बसने योग्यस्थान उत्पन्न हुए । अनुसन्धान प्रेमी निरुक्तरत्न श्री पं. जगन्नाथजी प्रधान आर्यसमाज अमृतसरने उव्वट भाष्य के आधारपर अधिपूरुषः के अर्थ सूर्य के अपने एक भाषण में कथन किये थे जो कि प्रसङ्गानुसार बहुतही उत्तम हैं । उव्वट भाष्य* का लेख हम नीचे उद्धृत करते हैं

" तत्र पूर्वं विराट्अजायत विराजः अधि पूरुषः प्रधानं तेजः"

अथर्व वेद १७-१-२३ में उदय होते हुए सूर्य के लिये विराट् शब्द उपयुक्त हुआ है । वि उपसर्गपूर्वक " राजृदीप्तौ " धातु से इस के अर्थ विशेष चमकने वाले के होते हैं । श्री पं. गंगाप्रसादजी एम. ए. ने इस के अर्थ जो एक स्थलपर "न्यू विला" के किये हैं वह उत्तम हैं ।

---

* देखो निर्णयसागर प्रेस बम्बई का मुद्रित पृष्ठ ५२५.

(व्याख्या) युरुप के अनेक विद्वान् आज कल क्रम वादी बन रहे हैं। ईसाई लोग क्षण में ही सृष्टि उत्पत्ति हुई ऐसा वर्णन करते थे जिस का प्रतिरोध करने के लिये ही डारविनादि ने यह बात स्थिर की, कि सृष्टि क्रमशः होनी चाहिये। यह वेद मंत्र जिस उत्तमता से यह बात कि सृष्टि क्रमशः हुई दर्शा रहा है वह कथन से बाह्य है। समष्टि से व्यष्टि सृष्टि होने का जो क्रम है वही हरबर्ट स्पेन्सर ने अपने परिच्छेदों में वर्णन किया है। वेदमंत्र में "पश्चात्" का शब्द स्पष्ट रूप से क्रमशः सृष्टि रचना का बोधन करा रहा है।

तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हुत॒ः सम्भृ॑तं पृषदा॒ज्यम्।
प॒शूँस्ताँश्च॑क्रे वाय॒व्या॒नार॒ण्या ग्रा॒म्याश्च ये ॥ ६ ॥

(तस्माद्) उस (यज्ञात्) बनाने वाले, योजक, (सर्वहुतः) सब के ग्रहण करने योग्य (संभृतं) भले प्रकार धारण किए हुए (पृषत् आज्यम्) खाने पीने के पदार्थ उत्पन्नहुए (तान्) वह (पशून्) पशु (चक्रे) बनाए (वायव्यान्) वायू में के (अरण्या) जंगलमें के (ग्राम्या) ग्राम में के (च) और (ये) जो

(भावार्थ) उस बनानेवाले (योजक), सब से ग्रहण करने योग्य, से, भले प्रकार धारण किये हुए खाने पीने के पदार्थ उत्पन्न हुए। वह प्राणी बनाए, वायु में के, व (जल में के) जो जंगल में के, ग्राम में के हैं।

(व्याख्या) जब भूमि समुद्र, आदि भले प्रकार बन चुके तब सृष्टिकर्त्ता सब के ग्रहण करने योग्य परम देव ने वह पदार्थ खाने पीने के बनाए जिन में रस प्रधान होता है और साथ ही वह जो स्नेहयुक्त होने से अग्निवर्द्धक वा आयुर्दाता वा पौष्टिक होते हैं।

सारांश यह कि सर्व प्रकार के भोजन पय आदि पदार्थ वा खाने पीने के पदार्थ अनेक देह धारण करने वालों के लिये पहिले निर्माण किये और जब इन भोग्य पदार्थों को बना लिया तब उन के भोक्ता प्राणियों को जन्म दिया।

स्थान विशेष के स्वाभाविक क्रम से यहां सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर धारियों की उत्पत्ति का अद्भुत तथा उत्तम वर्णन है। वायु में उड़ने वाले पक्षी, तथा उसमें विचरने वाले सूक्ष्म जन्तु आदि के लिये यहां पशु शब्द का ही व्यवहार हुआ है। च, शब्द जलचरों का बोधक है। वायु जल जंगल और ग्राम चार उत्पत्ति के स्थान दर्शाए गये हैं। प्रश्न हो सकता है कि क्या ग्राम अरण्य के अन्तर्गत नहीं हो सकता, इस के उत्तर में हम कहेंगे कि स्थल के प्राणियों के दो भेद दर्शाए गये हैं, एक वह जो मनुष्य की वस्ती से दूर रहते हैं और प्रायः ''र ही स्वभाव वाले हैं। दूसरे वह जो मृदु स्वभाव वाले होने से ग्राम में वा उस के निकट रह सकते हैं और मनुष्य से पाले वा सधाए जा सकते हैं।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांᳫंसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ७ ॥

(तस्माद्) उस (यज्ञात्) यज्ञ (योजक) (सर्वहुतः) सर्व के ग्रहण करने योग्य से (ऋचः) ऋग्वेद (सामानि) साम, (जज्ञिरे) प्रकाशित हुए, (छन्दांसि) अथर्ववेद, (जज्ञिरे) प्रकाशित हुआ, (तस्मात्) उसी से, (यजु) यजु, (तस्मात्) उसी से, (अजायत) प्रकट हुआ,

(व्याख्या) जिस प्रकार मनुष्य के दिमाग़ के भाग सामुद्रिक

विद्यावाले बतलाते हैं, उसी प्रकार यहां शब्दमय ज्ञान अर्थात् वेद के चार भागों का वर्णन और उस का प्रकाश ईश्वर से वर्णन किया गया है। सिर का अगला भाग अर्थात् मस्तक ज्ञान काण्ड का करण माना गया है, सिर का उपरि भाग उपासना काण्ड का बोधक और सिर का पिछला भाग कर्मकाण्ड का बोधक है ऐसा सामुद्रिकशास्त्र बताता है। तीनों के मिलाप से जो अनुभव होता है वह विज्ञान काण्ड का बोधक है। ज्ञान के जितने स्वाभाविक मुख्य भाग हो सकते हैं उन सब की उत्पत्ति चार वेद के रूप में ईश्वर से दर्शाई गई है। पूर्ण उन्नति के साधन वास्तव में ज्ञान, कर्म उपासना और विज्ञान ही हैं, मानवी भाषा तथा ज्ञान की उत्पत्ति का रहस्य, इसी मंत्र से खुलता है। यह मंत्र दर्शा रहा है, कि चारों वेदों का प्रकाश Simultaneously अर्थात् एक ही समय में ४ भिन्न भिन्न महर्षियों पर हुआ। यह बात युक्त, है कारण कि हम भारत भूषण पण्डित जगदीश चन्द्र बोस और इटली के (पंडित) मेकरोनी का दृष्टान्त दे चुके हैं। दोनों को एक ही समय में भिन्न भिन्न देशों में यही स्फुरणा हुई कि विना तार के भी विद्युत्, आकाश मार्ग द्वारा दूत का काम दे सकती है। यजुर्वेद को संस्कृत साहित्य में ऋग्वेद के पीछे, इसलिये नहीं लिखा जाता कि ऋग्वेद के पीछे, उस का प्रकाश हुआ, किन्तु उस का विषय कर्मकांड है, और ज्ञानकांड के पीछे ही उस का उपयोग हो सकता है। हरि वर्ष (युरोप) तथा (पाताल) अमेरिका में आजकल ऋग्, यजु तथा अथर्व के लिये बहुत से कांडों का सार वहां की प्रजा के जीवन में चरितार्थ हो, उन को भौतिक उन्नति के दर्शन करा रहा है, पर सामवेद (उपासना) के रहस्य अर्थात ब्रह्म-

विद्या वा उपनिषद का जीवन में प्रचार न होने से वहां मानसिक अशान्ति अभी दूर नहीं हुई ।

कोई यह न समझे कि आदि काल से लेकर कभी वेद के शब्द वा उस के अर्थ का मानवी प्रजा के होते हुए सर्वथा लोप हो जाता है। सच तो यह है कि मानवी प्रजा भी जब नहीं रहती तो वेद का ज्ञान, ईश्वर के ज्ञान में और वेद के शब्द आकाश रूपी महा ग्रेमोफोन में विद्यमान् रहते हैं । **राजोपदेशक** महात्माश्री स्वामी नित्यानन्द जी के जीवन चरित्र के पाठ करने से प्रगट होता है कि वह वेद को **अनादि अनन्त** अपने अमूल्य भाषणों में कहा करते थे ।

सृष्टि के सब ही पदार्थ दो अवस्था में रहते हैं । एक तो उन की वह अवस्था होती है जिस में उन के स्वरूप तक, मनुष्य की गति नहीं होती, इस दशा में वह अपने पूर्ण वा शुद्ध स्वरूप में रहते हैं । यथा वर्षा का जल । दूसरी अवस्था उन की वह होती है, जिस में मनुष्य उन का उपयोग करता है । इस अवस्था में वह न्यूनाधिक अशुद्ध हो जाते हैं । जो योग्य मनुष्य होते हैं वह कुद-रती पदार्थों को सदैव संस्कृत (शुद्ध) अवस्था में रखने का पूर्ण प्रयत्न करते रहते हैं, ताकि वह पूर्ण लाभ दे सकें । ठीक इसी प्रकार वेद के शब्द और वेद के अर्थों की दशा है । संस्कृत भाषा भाषी तो वैदिक शब्दों का उपयोग शुद्धावस्था में ही करते हैं, ऐसा जानना चाहिये, और **प्रत्यक्ष, अनुमान,** शब्द तथा **उपमान** इन महा प्रमाणों द्वारा जो तर्क से अनुसन्धान करते वा अपनी बुद्धि की साक्षी से वेदार्थ की खोज करते हैं, वह सदैव उसके **सत्यार्थ** को ही पाते हैं ।

संसार में जितनी भी भाषाएं हैं, वह वैदिक शब्दों की अशुद्ध अवस्था हैं। अफरीका के भयंकर अगम्य जंगलों में जहां एक हबशन अपने जन्मे हुए बालक को जंगली भाषा का कोई शब्द सिखाती है, वहां भी वह वेद के शब्द का सर्वथा विकृत रूप ही सिखा रही है। एंडेमन (कालापानी) द्वीपों के प्राचीन वासियों को असभ्य कहा जाता और उन की भाषा को जंगली। अनुसन्धान प्रेमी दर्शाते हैं कि इन की भाषा में भी संस्कृत के अनेक विकृत शब्द हैं और यह लोग बड़े भारी **प्राणायाम** के करने वाले होने से शारीरिक बल के धनी होते हैं। प्राणायाम की विधि, यह कैसे जान गये और संस्कृत के विकृत शब्द, इन की भाषा में, कैसे चले गये इन का एक ही उत्तर यह है कि यह मानवी प्रजा होने से मानवी भाषा और उस के वाच्य ज्ञान से सर्वथा रहित कैसे हो सकते हैं? उन उन द्वीपों में जिन का कोई संबंध कई शताब्दियों से सभ्य संसार से नहीं रहा, अब तक भी अनेक बातें सभ्य जगत की देखने में आती हैं। उन की भाषा निःसंदेह, उसी **कारण** भाषा की किसी सन्तान का घोर विकृत रूप है। प्राचीन काल में यह द्वीप जो आज सभ्य जगत् से पृथक् हो रहे हैं, ऐसे न थे। यह जहाज़ों के सदन (स्टेषन) थे। संस्कृत भाषा आर्य्य प्रजा की ही सन्तान नें इन को बसाया था। जिस प्रकार अधोगति में हम पड़ गये, उस से अधिक यह अधोगति में जा पड़े।

नारद बीन वा सारंगी का बजाने वाला जो जो शब्द मन में विचार करता है, वही मौन साधे हुए, सारंगी से निकाल देता है। जब मकान में उत्तम सारंगी बज रही हो, तो बाहिर से साधारण मनुष्य के लिये यह जानना कठिन हो जाता है, कि मनुष्य गा

रहा है वा सारंगी बज रही है। जब एक जड़ सारंगी से मनोवांछित राग हम निकाल सकते हैं, तो आकाशरूपी वीना को बजाने से, क्या ब्रह्म अमुक प्रकार के छन्दों से युक्त शब्दों का प्रकाश करते हुए आदि ऋषियों के कान तक आकाशवाणि के रूप में नहीं पहुंचा सकते थे? अवश्य पहुंचा सकते थे और पहुंचाया। छन्दबद्ध वेद का जब आलाप आकाश में आदि ऋषियों के दिव्य श्रोत्रों ने सुना होगा तो उन को कैसा आनन्द आता होगा, जैसा कि हम को वीना वा सारंगी के बजने पर आता है। वेद के लिये छन्द शब्द का प्रयोग इसी लिये इस मंत्र में किया गया है, कि वेद छन्दावस्था में ही प्रकाशित हुए। छन्दबद्ध ज्ञान सहज से कंठस्थ रह सकता है, इसी लिये ऐसी अवस्था में उन का प्रकाश हुआ।

स्व० महात्मा स्वामी श्री नित्यानन्दजी अपने भाषणों में कहा करते थे, कि मेसमेरिजम (योगावेश) के करने वाले अपने कलबूत (मीडियम) के मन पर, उन विचारों को पहुंचा सकते हैं, जो उन के मन में हों। जिस प्रकार विद्युत् आकाश मार्ग से विना तार के उन टकोरों को ले जाती है, जो शब्द संबंधी हैं, उसी प्रकार आकाश विचार रूपी मन की तरंगों को दूसरे मन तक ले जाते हैं। योगी लोग अपने विचार दूसरे योगी तक पहुंचा सकते हैं। ईश्वर जो सर्व व्यापक है, उस ने आदि काल के परमयोगी ऋषियों के समाधिस्थ मन में, अपना ज्ञान, जो उन शब्दों का अर्थ था, जो छन्द बद्ध, उन के कान तक पहुंच रहे थे, उन को जनाया और समाधि अवस्था के पीछे वह उसी का उपदेश अन्य मनुष्यों को करने लगे। इस से यह भी सिद्ध होता है कि वेद का उपदेश पहिले ४ ऋ-

षियों ने उस समय मनुष्य समाज तक पहुंचाया, अर्थात् वेद मनुष्य मात्र तक पहुंचाने के लिये हैं, यह बात उन्हों ने सार्थक कर दिखाई। भारत सन्तान को समझना चाहिये कि अब भी हमें वेद का पठनपाठन तथा उपदेश मनुष्य मात्र को करना है। वह दिन बड़ा ही सौभाग्य का होगा जब कि भारतीय आर्य्य, पारसी, बौद्ध, जैन, यहूदी मुसलमान और ईसाई छात्रों को वेद पढ़ाने का यत्न करेंगे। कई लोग प्रश्न किया करते हैं, कि वेद तो छन्दों में होने से प्रायः काव्य हैं। आदि काल में सूत्रों समान उपदेश होना चाहिये था। इस का उत्तर यह है, कि अब भी सब मनुष्य सब देशों में अपने नए जन्मे बच्चों को जो लोरियां सुनाते हैं वह सभ्य देशों में तो कविता का ही रूप लिये हुए होती हैं। Nursery songs [माता के गीत] नामी अनेक पुस्तक नित्य प्रति हम इंग्लिश भाषा में पढ़ते हैं, उन में बच्चों की लोरियां और बच्चों को सुनाने के गीत ही होते हैं। जो प्रजा विद्वान् नहीं, उसकी लोरियां यदि पूरा काव्य नहीं होतीं, तो भी तुक बन्दी तो जरूर उन में होती है। तुकबन्दी अपूर्ण कविता का दूसरा नाम नहीं तो क्या है?

जब छोटे बालक को सुलाना होता है, तब माता जहां उसको पालने में डाल झूले देती है, वहां उस की स्तुतिबोधक लोरि जो उत्तम कविता में, स्वयं खूब उच्च तथा मधुर स्वर से गाती है। जब बालकों को आप लोरियां सुनाते हैं, तो आदिकाल के आदि ऋषियों को आदि ज्ञान लोरीरूप [कविता] में न मिले यह प्रश्न कर्त्ता का कहना कैसे माना जा सकता है?

कई लोग कहा करते हैं कि कविता तो साधारण बातों की होनी चाहिये, भला अनेक सायंसों के गूढ़ विषय भी कभी कविता

में हुआ करते हैं। उन के उत्तर में हम कहेंगे कि शेक्सपियर और कालिदास आदि महा कवियों की कविता में यही तो सौन्दर्य्य है कि वह प्रायः अनेक सायंसों [विद्याओं] की बातों को ही कविता में दिखाते हैं। आजकल बंबई युनिवर्सिटी की गुजराती बालपोथी में जो प्रारंभ में बच्चे पढ़ते हैं यह कविता है कि

लाल पीलो ने वादली मूल रंग कहेवाय।
बाकीना बीजा बधा मेलवणीथी थाए ॥

अर्थ—लाल पीला और आसमानी मूल रंग कहलाते हैं। बाकी के और सब मिलाने से बनते हैं। जो लड़के मैट्रिक पास कर के कालेज में जाकर सायंस पढ़ते थे, वह ही पहिले सुनपाते थे, कि लाल, पीला और बादली यह तीन मुख्य रंग हैं, बाकी रंग, इन के मिलाप से बनते हैं। यह सायंस का गूढ़ सिद्धान्त था। यदि गद्य में यह सूत्र बना कर बाल पोथी में लिखा जाता तो लड़के पढ़ते तो सही, पर इस को कोई भी कंठ न करता आज बड़ोदा राज्यभर में एक भंगन की ८ वर्ष की लड़की भी जब पाठशाला से घर को जाती है, तो रास्ते में अपनी मौज से उक्त दोहा गाती हुई चली जाती है। कविता के द्वारा सायंस के गूढ़ सिद्धान्त कैसे रोचक शब्दों में बच्चों तक हम पहुंचा सकते हैं।

कई लोग कहा करते है कि वायु आदि को संबोधन करके क्यों कविता वेद में की गई हैं? उन के उत्तर में हम कहेंगे, कि एक ही प्रकार की शैली से थकान होजाता है। इसलिये भिन्न भिन्न प्रकार की शैलीद्वारा भिन्न भिन्न विषयों का प्रचार करना उत्तम है। इंगलेंड के राजकबि टेनीसन ने एक कविता इस प्रकार की है, जिस से प्रतीत होता है कि नदी बोल रही है, पर उस का मतलब तो रोचक बनाने का था।

कविता में अलंकार और दृष्टान्त, भाव को मन में बिठाने के लिये होते हैं। उन अलंकारों का तत्त्व न समझ कर उन के अक्षरों पर झगड़ना विद्वानों का काम नहीं। वेद में कहा है कि ब्राह्मण उस के मुख हुए. यह अलंकार नहीं तो क्या है? इस का उत्तम भाव न लेकर सचमुच यह मान बैठना कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख हैं, भूल है। यदि अलंकार की रीति से किसी कविता में किसी वीर पुरुष को सिंह से उपमा दी जावे, तो हमारा यह समझ बैठना कि वह ज़रुर पशु ही था, कभी ठीक हो सकता है? नहीं कभी नहीं।

कोई प्रश्न कर सकता है कि छटे मंत्र में सामान्य रूप से वर्णन था कि अरण्य तथा ग्रामादि में पशु पैदा हुए। इस मंत्र में वेदों के प्रकाश का वर्णन है, पर मनुष्य उत्पत्ति का सामान्य रूप से भी वर्णन नहीं। इस का उत्तर यह है, कि यह भी एक प्रयोग शैली है, जैसे हम रोज़ कहते हैं कि " इनाम बांट दिया गया " तो सुनने वाला समझ लेता है, कि पास शुदा (अधिकारी) छात्रों को पारितोषक (इनाम) बांट दिया गया। इस लिये जब वेदों के प्रकाश का वर्णन इस में आता है, तो इस से ही समझ लेना चाहिये, कि ज्ञान का प्रकाश उस के अधिकारी मनुष्यों पर ही हुआ होगा। अतः इस से पाया जाता है कि यहां सामान्य रूप से उन अधिकारी मनुष्यों की उत्पत्ति का वर्णन है, जिन पर ज्ञान के चार भाग प्रकाशित हुए।

वेदों के अर्थ सदैव सत्य ही रहते हैं। सत्य में न्यूनाधिकता वा उस का स्वरूप परिवर्तन नहीं हो सकता। यदि आग पहिले गर्म थी तो आज ठंडी नहीं है। यह गुण उस का जब सत्य रूप

से विद्यमान है, तो किसी शब्द का अर्थ बदले, यह हो नहीं सकता। यदि पहिले कोई भ्रान्ति से आग को ठंडा समझता था और आज गरम तो उस की भ्रान्ति दूर हो कर उस बुद्धि की उन्नति हुई ऐसा हम कह सकते हैं, पर वास्तव में एक सत्यार्थ के स्वरूप में उन्नति वा परिवर्तन नहीं हुआ। एक विज्ञानी रश्मि का एक ऐसा गुण अनुभव करता है, जो पहिले वह नहीं जानता था, इस रीति से उस ने एक सत्य गुण, नवीन जाना और उस के ज्ञान में वृद्धि हुई, पर यह ज़रूरी नहीं कि उस से पहिले कभी किसी ने बहुत प्राचीन काल में वह गुण न जाना हो वा न जान सकता हो। जो गुण पदार्थों के पूर्व काल के तपस्वी मेधावी योगी जान चुके हैं, उन को वर्तमान काल के तपस्वी फिर जान सकते और भविष्य में जानेंगे भी। जब कोई कहे कि Knowledge is Progressive (विद्या उन्नति शील है), तो इस का यह मतलब नहीं है, कि विद्या (सत्यार्थ) का स्वरूप उन्नति शील है, किन्तु हमारी बुद्धि में नाना विद्याओं के सीखने से उन्नति होती है, पर उन अनेक विद्याओं (सत्यार्थों) में नहीं। हमें १०० रुपैये कहीं से प्राप्त हुए, हम निर्धन थे, धनी हो गये, पर रुपैये हम को मिलने से पूर्व कहीं न कहीं पूर्ण रूप में थे, किसी भी रुपैये के स्वरूप में उन्नति वा वृद्धि नहीं हुई।

वेदों का उत्तम भाष्य करने वाले के लिये

(१) वेद के संपूर्ण अंगोपाङ्ग मनन रूप से जानने ज़रूरी हैं, क्यों कि वेद सर्व विद्याओं के मूल हैं।

(२) वह योगी हो अथवा योगाभ्यासी।

(३) वेद के शब्द यौगिक और अर्थ बुद्धिपूर्वक हैं, इस नियम

से यदि वह चूका, तो उस का श्रम व्यर्थ जाएगा, वेद का सत्यार्थ जो नाना सत्य विद्याएं, हैं वह कभी नहीं प्रकाश कर सकेगा ।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ ८ ॥

(तस्मात्) उस से। (अश्वाः) घोड़े। (अजायन्त) उत्पन्न हुए। ये। जो। (के) कोई। (उभयादत) दोतरफ से (ऊपर नीचे) दांतवाले। (गावः), गायें। (ह) निश्चय करके। (जज्ञिरे) उत्पन्न की गईं। (तस्मात्) उस से। (जाता) उत्पन्न हुए। (अजावय) बकरी भेड़ें।

(व्याख्या) ज़ेबरा जैसे एक पशु से डारविन आदि ने घोड़े गधे की उत्पत्ति कल्पित की है। Professor Ridgeway (प्रो० रिजवे) ने वर्षों के अनुसन्धान से डारविन की इस कल्पना का खंडन किया है। डारविन की इस कल्पना का भारी खंडन इस मंत्र में मौजूद है। यह मंत्र दर्शा रहा है कि घोड़े गधे तथा अन्य पशु जिन के मुख में नीचे ऊपर दोनों तरफ दांत होते हैं और गाय आदि एक दांत वाले पशु तथा बकरी भेड़ सब उसी परमेश्वरने उत्पन्न कीं।

प्रश्न हो सकता है कि घोड़े गाय, बकरी भेड़ का क्यों वर्णन विशेष इस मंत्र में आया, उस का उत्तर यह है, कि यह सधाए तथा पाले जा सकते हैं और मनुष्य के लिये बड़े उपयोगी हैं। वर्षों बालक इन ही पशुवों की महिमा बोधक पुस्तकें पढ़ते रहते हैं। इन को पालने वाले वैश्य लोग सर्वत्र धनी होते हैं।

घोड़ा और गधा स्वतंत्र जातिएं हैं, यह बात मंत्र के शब्दों

पर विचार करने से पाई जाती है, कारण कि मंत्र में अश्व की उत्पत्ति के साथ और सब उभयदत पशुओं की उत्पत्ति का वर्णन " चोभयादतः " इन शब्दों में है। जिन्हों ने इस मंत्र को न समझकर घोड़े गधी के मिलाप से वंश चलाना चाहा, वह नहीं चला, और हार कर उन को इस मंत्र की सत्यता माननी पड़ी। ज़ेबरा तथा बन्दर भी स्वतंत्र जातियां हैं, कारण कि वह भी उभयदत हैं, उन की भी उत्पत्ति ईश्वर ने की।

तंयज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रत ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ९ ॥

(ये) जो। (देवाः) विद्वान्। (साध्याः) योगाभ्यासी। (ऋषयः) (मंत्रद्रष्टा)। (च) और। (यम्) जिस। (अग्रतः) पहिले से। (जातम्) प्रसिद्ध। (यज्ञम्) पूज्य। (पुरुषम्) व्यापक ईश्वर को। (वर्हिषि) हृदय में। (प्रौक्षन्) धारण करते हुए। (तएव) उन ऋषि आदि कोंने (तेन) उस से। (तम्) उस को (अयजन्त) पूजा।

(व्याख्या) यद्यपि ७ वें मंत्र में, उन परम योगियों की उत्पत्ति का वर्णन वेद प्रकाश के अन्तर्गत आ चुका था, पर इस मंत्र में विशेष रूप से बहुवचन द्वारा देव, साध्य और ऋषि कोटि के बहुत से मनुष्यों की उत्पत्ति का वर्णन है।

पिछले मंत्र में " उभयादतः " शब्दों से बन्दर की अनेक जातियों का वर्णन आ चुका था। भ्रान्ति हो सकती थी कि मनुष्य भी तो बन्दर समान उभयदत्त है इस लिये उस का वर्णन वहां ही पृथक् रूप से क्यों न मान लिया जावे ? इस का उत्तर यह है, कि यह मान लेने से भी कि मनुष्य जाति की घोड़ा, बन्दरादि समान स्वतंत्र उत्पत्ति हुई, कोई दोष नहीं था, पर पशु केवल भोगयोनि और मनुष्य

भोग तथा कर्मयोनि है इस लिये पृथक् वर्णन इस मंत्र में भी किया गया। साथ ही इस मंत्रने विशेष तौर पर साफ कर दिया कि मनुष्यजाति की स्वतंत्र उत्पत्ति हुई। यही नहीं परंतु मंत्र ने इस प्रश्न का भी उत्तर दे दिया कि चार वेदाधिकारी ऋषियों के अतिरिक्त और भी अनेक मनुष्य ऋषि पद के अधिकारी तथा देव और साध्य कोटि के उत्तम विद्वान तथा धर्मात्मा हुए।

यत्पुरुषं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन्।
मुखं॒ किम॑स्यासी॒त्किं बा॒हू किमू॒रू पादा॑ उच्येते ॥ १० ॥

(यत्) जिस। (पुरुषम्) पुरुषको। (कतिधा) कितने प्रकार से। (व्यकल्पयन्) कल्पना की जाती है। (व्यदधुः) व्याख्या की गई है। (अस्य) इस का। (मुखम्) मुख। (किम्) क्या। (आसीत्) था। (किम) क्या। (बाहू) बाहु। (किम्) क्या। (ऊरू) जङ्घायें। (पादौ) पैर। (उच्येते) कहे जाते हैं।

(व्याख्या) पिछले मंत्र में देव, साध्य और ऋषि का वर्णन करते हुए, मनुष्य उत्पत्ति का वर्णन हो चुका। प्रश्न होता है कि देव ऋषि तथा अन्य मनुष्य जो उस समय पैदा हुए और आगे को उन [illegible]ने का जो मनुष्य समाज बनेगा, वह सब एक ही योग[illegible]ठेकर पैदा होते रहेंगे वा उन में भेद रहेगा? यदि उन में भे[illegible]रहेगा, तो एक मनुष्य समाज में भिन्न भिन्न योग्यता रखने वाले किस प्रकार काम करें, जिस से वह सुख से रहें। इस वेद मंत्र ने अलंकार रचने वा कल्पना करने का ज्ञान कैसा उत्तम दिया है, वह मंत्र के शब्दों से प्रगट हो रहा है। स्वयं मंत्र में यह प्रश्न उठाया गया है कि **कितने प्रकार से हम (पिछले मंत्र में) वर्णन**

की गई ईश्वर की मानवी प्रजा की मुख, बाहु, ऊरू तथा पग रूप से कल्पना कर सकते है ?

इस प्रश्न के उत्पन्न होने का कारण पिछले मंत्र में ही मौजूद था और वह यह, कि वहां देव, साध्य और ऋषि तीन प्रकार के उत्तम कोटि के मनुष्य वर्णन किये गये थे। यदि सब देव थे तो फिर साध्य और ऋषि शब्द व्यर्थ हैं, यदि सब ऋषि ही थे तो शेष दो शब्द व्यर्थ होंगे। योग्यता भेद से तीन प्रकार के विद्वान पिछला मंत्र कह चुका था, इस पर विचार करने से शंका जो हो सकती थी, उस को स्वयं ही उठाकर इस मंत्र में रख दी और उन के अधिकारादि का निर्णय करना ज़रूरी ठैरा।

इस मंत्र में " व्यकल्पयन् " अर्थात् कल्पना करें और " उच्येते " अर्थात् कहे जाते हैं, यह शब्द दर्शा रहे हैं, कि मात्र अलंकार की कल्पना से प्रश्न है और उत्तर में भी " कह जाते हैं " कहने से साफ हो रहा है, कि अलंकार के कल्पित अंग कभी वास्तविक नहीं समझने चाहिये। इन शब्दों के होने पर जो सज्जन यह मान बैठे हैं कि ईश्वर के मुख आदि अंग होते हैं और वह साकार है, उन का ऐसा मानना ठीक नहीं। यदि पिछले मंत्र से संबंध तोड़कर वह मुखादि ईश्वर के अंग मानना चाहें [illegible] यह मान नहीं सकते, कारण कि वह भी अन्त को कल्पित अंग, हर [illegible] होंगे, और कल्पित अंगों वाला, कल्पित साकार ही ठैरेगा, [illegible] विक साकार नहीं। ईश्वर को इसी वेद ने ४० अध्याय के ८ वें मंत्र में अकाय (निराकार कहा है)

स पर्य्यगाच्छुक्रमकाय ....

अर्थात् वह ईश्वर (परि) सब जगह (अगात्) व्यापक है

(शुक्रम्) शीघ्रकारी सर्व शक्तिमान् है (अकायम्) स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर रहित है। जो साकार मानता है, वह इन दो प्रश्नों का भी उत्तर नहीं दे सकेगा--

(१) यह कि जो सर्वव्यापक है, वह साकार कैसे हो सकता है।

(२) जब चलीसवें अध्याय में उस को सर्वव्यापक तथा अकाय कहा गया है, तो क्या इस के विरुद्ध कहीं वेद जो सत्यार्थ का भंडार है, कह सकता है ? जब नहीं तो फिर पुरुष सूक्त के इस मंत्र से कभी कोई ईश्वर में सचमुच मुखादि अंग हैं, ऐसा नहीं मान सकता।

कल्पित अलंकार से हम एक पुरुष को शेर कह सकते हैं, पर क्या इस से वह अपना स्वरूप बदल पूंछ वाला शेर बन सकता हैं। जब बन्दर, मनुष्य नहीं बन सकता, मनुष्य और कोई जाति का पशु नहीं बन सकता, तो क्या अलंकारिक कल्पना मात्र से सर्वव्यापक अकाय ईश्वर, कभी एक देशी साकार बन सकता है ? नहीं नहीं कभी नहीं।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
उरू [illegible] यद्वैश्यः पद्भ्याᳪशूद्रो अजायत ॥ ११ ॥

[illegible]णः) ब्राह्मण। (अस्य) इसका। (मुखम्) मुख। (आ[illegible]) हुए। (बाहू) बाहें। (राजन्यः) क्षत्रिय। ([illegible]तः) किया। (उरू) जंघाएं। (दोनों) तत्, सो। (अस्य), इस की। (यत्) जो। (वैश्यः) वैश्य (हुआ) (पद्भ्याम्) पैरोंसे। (शूद्रः) शूद्र। (अजायत) उत्पन्न हुआ।

(शब्दों पर विचार) वैदिक शब्द यौगिक हैं इस लिये इस मंत्र में आये हुए ब्राह्मण; राजन्य, वैश्य और शूद्र के अर्थ हम को

देखने होंगे । राजन्य=क्षत्रियव्यक्ति " क्षतात् किलत्रायतइत्युदग्रः क्षत्रस्यशब्दोभुवनेषुरूढः" (रघुवंश सर्ग २ श्लो. ४२) देखो कोष, अर्थात् जो प्रहार से बचाता है अतएव संसार में उन्नत क्षत्र शब्द प्रसिद्ध है, वैश्य शब्द " विश प्रवेशने " धातु से सिद्ध होता है जिस के अर्थ प्रवेश करने के हैं (खेती व्यापारादियों में) जैसा कि " विशत्याशु पशुभ्यश्चकृष्यादावसाचिः शुचिः । विद्याध्ययन सम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञित" । इस वचन से सिद्ध होता है । शूद्र " शुच-शोके " धातु से बना है इस का अर्थ यह है कि जो शोक करता है वह शूद्र है ।

(व्याख्या) (१) पिछले कल्पित अलंकारिक प्रश्न का यह मंत्र कल्पित अलंकारिक उत्तर है । भाव को प्रगट करने के लिये अलंकार और कल्पना की जाती है । अब हम देखें कि क्या उत्तर दिया गया है ? उत्तर यह है कि मनुष्य समाज के मुख, ब्राह्मण, बाहु क्षत्रिय, जंघा, वैश्य और पग शूद्र हैं ।

किसी घर में सब चीज़ें सर्वत्र बिखरी हुई पड़ी हैं, उस घर को सुधारने का ढंग यही है, कि पहिले प्रत्येक वस्तु अपने अपने स्थान पर रखी जाये । कौन वस्तु नीचे रखें कौन ऊपर? [illegible] चाहें [illegible]रे पदार्थ नीचे रखने होंगे, पुस्तक आदि हल्के पदार्थ उन पर ऊ[illegible] किसी ग्राम में १०० मनुष्य भिन्न भिन्न योग्यता के हों तो इन [illegible]ों को किस नियम से व्यवस्थित करें । यदि यह जड़ पदार्थ होते तो इन[illegible]को नीचे उपर तोल की दृष्टि से रख सकते थे, पर मनुष्यों को कैसे बड़े छोटे अधिकार के योग्य समझें ? इस का उत्तर मंत्र जानने वाले देंगे कि पहिले ब्राह्मण देखो इन में कौन कौन हैं ? जिज्ञासु नहीं जानता कि ब्राह्मण किस को कहते हैं । वह हैरान है कि क्या करे ।

पास से कोई सहायक मनुष्य कहता है कि भाई जिज्ञासु तुमने ब्राह्मण ढूंडने हैं न? वह कहता है कि जी हां। (सहायक) अच्छा तो फिर तुम समझते हो कि वेद के शब्द कैसे हैं? (जिज्ञासु) आप ही कहिये। (सहा०) वेद के सब शब्द यौगिक अर्थात् अर्थ बोधक हैं, इस लिये ब्राह्मण शब्द के भी अर्थ हैं। तुह्मारे हाथ में यह क्या है (जि०) आप्टे का अंगरेजी संस्कृत कोष (सहा०) अच्छा देखो इस में ब्राह्मण शब्द है वा नहीं (जि०) यह लीजिये (सहा०। अच्छा पढ़डालो (जि०) यह लो "**ब्रह्मवेदं शुद्धं चैतन्यं वा वेत्त्यधीते वाअण्**" अर्थात् वेद, शुद्ध अथवा चैतन्यको जानता अथवा पढ़ता है। जिज्ञासु झट से ग्राम में जाता है, और देखता है कि अमुक अमुक स्थल पर लोग वेद पढ़े हुए बैठे हैं कहीं पाता है कि वेद पढ़े हुए शुद्ध ब्रह्म तथा चेतन ईश्वर के ध्यान में योगाभ्यास कर रहे हैं। वह ऐसे सब मनुष्यों के नाम अपने पत्रक (Register) में लिख लेता है, और उन के आगे **मुख,** यह भी लिखता जाता है। इस गाम से उस को २० ऐसे मनुष्य मिले हैं। अब वह फिर संस्कृत कोष उठाता और पाता है कि राजन्य क्षत्रिय का [illegible] है। क्षत्रिय के अर्थ उसी कोष में जो संस्कृत मे [illegible] उन का अर्थ यह है कि

[illegible] **प्रहार से बचाता है**"

वह [illegible] कर शेष मनुष्यों से पूछता है कि यदि तुम्हारे ग्राम में [illegible] आ जावें तो तुम तन और धन की रक्षा कर सकोगे वा नहीं? उन में से १० मनुष्य सामने खड़े होजाते हैं, कि हम अपने खेतों तथा गाम के नरनारी के तन और धन की रक्षा करते रहे हैं। वह उन को अपने पत्रक में लिखकर उन के नाम के आगे **बाहु** लिख लेता है।

फिर वह कोष से वैश्य शब्द के अर्थ पाकर, खेती, व्यापार, पशुपालन तथा तत्संबंधी शिल्प करने वाले के नाम अपने पत्रक में लिखता और ५० की संख्या पाता है।

इस के पीछे वह कोष में पाता है, कि जो शोक करता है, वह शूद्र है। वह शेष रहे हुए २० मनुष्यों से पूछता है, कि भाई तुम अपनी दशा में संतुष्ट हो, वह असंतोष प्रगट करते हैं, यह उन के नाम अपने पत्रक में लिख, उन के आगे शूद्र लिख लेता है।

१. वेद पढ़ना और ब्रह्मज्ञान पाने वाला ठीक मुख पदवी के योग्य है। कारण कि शरीर में नेत्रादि ज्ञान इन्द्रियां जो नायक का काम करती हैं वह मुख भाग में हैं।

२. जो चोट से बचाता है, उस को भुजाकी पदवी ठीक ही है, कारण कि भुजा ही सर्व शरीर की प्रहार से रक्षा करती हैं।

३ जो खेती आदि कर्म करता है, वह पदार्थों में तथा देश देशान्तरों में प्रवेश करता है, वह खेत से घर तक अनाज और व्यापार के पदार्थ अनेक स्थलों से लाकर एक वा अनेक स्थलों पर पहुंचाता है। शरीर में जंघा का भी मुख्य वस्तु [illegible] को एक स्थल से दूसरे स्थल पर ले जाना है, इस लिये [illegible] वाहें [illegible] पे उपमा ठीक दी गई है। [illegible] दर [illegible]

४ यदि शूद्र न हों तो वैश्य अपने Assistant [illegible] यक) कहां से लावें। जिस प्रकार सर्व शरीर का आधार [illegible]ते हैं। उसी प्रकार सर्व समाज का आधार शूद्र हैं। इसी लिये संध्या मंत्रों में

"ओ३म् तपः पुनातु पादयोः"

लिखा है, अर्थात् पग तपस्या बोधक अंग हैं। शूद्र भी सेवा श्रम आदि तपस्या से मानव समाज के पगवत् आधार हैं।

फिर वह पाता है कि ब्रह्मणो ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं* — — — — अर्थात् ब्राह्मण वेद पढ़ ब्रह्म ज्ञान का प्रचार करें। क्षत्रिय प्रहारों से बचावें। वायु समान गति धर्म धारण कर वैश्य सर्व व्यवहार करें। श्रम रूपी तपस्या शूद्र करें।

शरीर को समाज समझना चाहिये और अंगों को सभासद। यह मंत्र (१) योग्यता परीक्षण (२) व्यवस्था (संगठन) (३) भाग उपासना (Division of Labour (4) (Co-operation) सहयोग (५) समाज (समष्टि) की उन्नति वा हानि मे निजु (व्यष्टि) उन्नति वा हानि समझने का शिक्षण दे रहा है। कारण कि शरीर के अंगों में यदि अमुक काम करने की योग्यता न हो तो वह कैसे काम कर सकें ? समाजशास्त्र (Sociology) पर लिखने वाले युरुप के सब ही उत्तम लेखक सामाजिक व्यवस्था के दृष्टान्त मानवी शरीर से ही देते हैं।

युरुप के कई विद्वानों का यह विचार है कि जन समाज में केवल बलवान् को ही जीने का अधिकार है, उस का खंडन इस मंत्र से हो रहा है, का[illegible] कि छोटे बड़े सब ही अंग दूसरों तथा अपने लिये जी[illegible]

[illegible] हैं कि ब्राह्मणादि वर्ण जन्म से हैं, वा गुण [illegible] उन का उत्तर यह है कि वर्ण शब्द के अर्थ पद[illegible]कार किए गए के हैं। हिन्दु विश्वविद्यालय के स्तम्भरूप श्रीयुत बाबू भगवानदास वर्ण का अर्थ Vocatan (धंदा) करते हैं, जो बहुत ही भाव पूर्ण है। रही यह बात कि ब्राह्मण का लड़का

---

* वैदिक स्कॉलर काव्यतीर्थ श्रीपण्डित शिवशंकरजी ने जाति निर्णय में बड़ी योग्यता से सिद्ध किया है कि शूद्र तप के लिये है (यजु ३०—मं० ५)

ब्राह्मण माना जावे, यह ठीक नहीं । कारण कि वैदिक शब्द यौगिक हैं, इन में इतिहास नहीं । इसलिये गुण कर्म स्वाभावानुसार जिस व्यक्ति में जैसी योग्यता होगी वैसे उस को मानना चाहिये । स्वभाव शब्द के अर्थ आदत वा शील के हैं। नाटक में एक मनुष्य ब्राह्मण के गुण कर्म दिखा सकता है, पर उस से ब्राह्मण नहीं होगा, कारण कि वह रोज़ ब्राह्मण के कर्म नहीं करता इसलिये स्वभाव का भी मानना ठीक है । इसी जन्म में गृहाश्रम में प्रवेश करने से पूर्व प्रत्येक मनुष्य का वर्ण उस के गुण कर्म स्वभाव के अनुसार जन-समाज, विद्यापरिषद अथवा राज्यादिद्वारा निश्चित होना चाहिये ।

श्रीयुत गोविन्दभाई एच. देसाई बी. ए. एल. एल. बी. लेट सेन्सिस कमिश्नर (Census Commissioner) बड़ोदा राज्य अपनी (Summary of Report) (वृत्तान्त संग्रह) नामी अंग्रेज़ी पुस्तक के १६२ पृष्ठ पर उत्तमता से पेरिस के डाक्टर जासक बार्टिलन (Dr. Jasque's Bertillon of Paris) की उस जन गणना पद्धति का वर्णन करते हैं जिस का भाव यह है । बर्टि-लन के मतानुसार सब धन्धे चार भागों [illegible] वस्तु [illegible] सकते हैं । कच्चे माल को पैदा करने वाले (२) दूसरे कच्चे [illegible] वाहें [illegible] न्तर करने तथा उपयोग में लाने वाले (३) साधारण [illegible] शिल्प कला (४) परचुरण (मिश्रित) । इन ही [illegible] र भा [illegible] दर [illegible] ह पेटा अंग (Subclasses) में विभक्त करते हैं । (अ) [illegible] का उपयोगी कच्चा माल या तो भूमि पर काम करने (कृषि कर्म) १ वा ज़मीन के खोदने से प्राप्त होता है, २ धातें निकालने से । (ब) यह कच्चा माल शिल्प कलादि द्वारा रूपान्तर किया जाता है । ३ (हस्त शिल्प जन्य पदार्थ) जो जहां चाहियें वहां ले जाए जाते

हैं। ४ ले जाना और व्यापार द्वारा ग्राहकों में खपाना। ५ (व्यापार) (स) उक्त धंदों की रक्षा तथा सर्व शक्ति निमित्त, प्रत्येक देश, सेना आदि रखता है। ६ तथा एक सार्वजनिक व्यवस्था। ७ उदार धंदे ८ मनुष्य उन की आश्रय पर जीवन चलाने वाले ९. उक्त धंदों को स्वाभाविक करने वाले १० यह उचित कि गृह सेवा के लिये प्रबन्ध किया जावे। ११ अपूर्ण धंदे १२ व्यर्थ धंदे यह व्यवस्था ४ वर्ग और १२ उपवर्ग देता है।

उक्त लेख हमनें इस लियें उद्धृत किया है, कि यह दर्शाया जावे कि युरुप में बरटिलन जैसे सर्वमान्य दक्ष गणक भी मानो वेद के ४ वर्णों के भाग के भाव को दूसरे शब्दों में दर्शा रहे हैं। उन के जितने भी उपवर्ग हैं, हम सब ४ वर्णों के अन्दर ही रख सकते हैं, जैसा कि मनु स्मृति में है। देखना यह है कि किस प्रकार वैदिक सिद्धान्त संसार में अपनी सत्यता के कारण दिनों दिन रूपान्तर में फैलते हुए चले जा रहे [illegible]।

भारत वर्ष में [illegible] ोड़ से अधिक हिन्दु अछूत माने जा रहे हैं, वैदिक [illegible] जो इस मंत्र में दर्शाई गई है इन का [illegible] न्तर्गत है। जो लोग इन को उज्वल तथा [illegible] र भी अछूत समझते हैं वह क्या अपने पग [illegible], [illegible] हार द्वारा समझते हैं वा नहीं? यदि नहीं तो [illegible] कारण घृणा नहीं करनी चाहिए। उस मंत्र ने अन्त्यजो-द्धार के प्रश्न को भी साफ कर दिया अर्थात् दर्शा दिया कि जिस प्रकार पग अस्पर्श नहीं हो सकता उसी प्रकार कोई मनुष्य अस्पर्श नहीं है।

इस मंत्र में जो मुख का शब्द आया है, उसके अर्थ आपटे

कृत कोष में " मुंह, वक्ता, चेहरा शिर, चोटी, अगला भाग " इत्यादि हैं। इसलिये यहां पर यह समझना चाहिये कि ब्राह्मण शिर की न्याई मुख्य हैं। Head Master, (मुख्याध्यापक) Head Clerk (मुख्य लेखक) इत्यादि शब्दों में Head (शिर) शब्द का प्रयोग मुख्यपन को प्रगट करने के लिये होता है। स्व० महात्मा श्री स्वामी **नित्यानन्दजी** भाषणों में कहा करते थे, कि " Civil (नागरिकशासन) के अधिन Military (युद्ध विभाग) आजकल सभ्य देशों में रहता है। " शरीर में ज्ञान के आधीन क्रिया रहती है। जब हम आंख से देखते हैं कि मार्ग में कांटे हैं, तो पग को जो क्रिया साधक अंग है, दूसरे मार्गमें ले जाते हैं। शिर का काम सोचना वा ज्ञान उपलब्ध करना है, मुख का काम बोलकर समाज को वह ज्ञान देना होता है, इसी लिये ब्राह्मणों का काम **ज्ञान** तथा **वाणी** संबंधी है।

जब किसी को जंगल में शेर [illegible]ने की आवाज़ सुनाई देती है तब ही उस का हाथ [illegible]रते हैं [illegible] है, इस से पाया गया कि शब्द श्रवण उस का **ज्ञान** [illegible]र आगे [illegible] वस्तु इस ज्ञान के दूसरे क्षण में ही **क्षत्रिय** काम करेगा) [illegible] कर [illegible] वाहें [illegible] करले कि शेर तो बहुत दूर है, तो ऐसी दशा [illegible] क्षत्रिय पन, बुद्धि, विचार, वा ब्राह्मणपन के आध[illegible] रह[illegible] दर [illegible] यदि ब्राह्मण वा शिर, हाथ से भय के समय काम नहीं [illegible]ते [illegible] शेर आकर हाथ को ही नहीं किन्तु शिर को भी तो खा जावेगा। अन्य वर्ण की मौत के साथ ब्राह्मण की भी मौत है। पैर को यदि वह शेर नोच खावे और शेष शरीर को छोड़कर चला जावे तो क्या उस दशा में शरीर सदैव के लिये दुःखी न हो जावे गा ? यदि जंघा

को खाकर, शेष शरीर छोड़ जावे, तो शेष अंगों को कितना दुःख होगा, इसलिये एक अंग के दुःख से शेष समाज को दुःख है। परोपकार में अपना सच्चा स्वार्थ है। यदि कोई मनुष्य अन्धा, बहेरा वा गुंगा हो तो शरीर ही निकम्मा हो जाता है। इसलिये ब्राह्मण यदि अपना धर्म जो कि वेद पढ़ना और ब्रह्मोपासन सिखाना छोड़ दें, तो जनसमाज की गति अन्धे, बहेरे, तथा गुंगे शरीरवाले समान होगी।

मनुष्य मात्र की **जाति** एक ही है, कारण कि मनुष्य समाज के सब सभासद एक दूसरे से विवाह कर संतान पैदा कर सकते हैं। उस के ४ वर्ण हैं, जो सब देशों में नाना रूपों में अब भी हैं। भारत में वर्णों के स्थान में ४ " ज्ञातियें " वा " मित्रमंडल " कभी बने थे। उन की अब हज़ारों व्यर्थ " न्यातिएं " बन गई हैं। कई लोग कहते हैं कि ४ वैदिक वर्णों की भी क्या ज़रूरत है ? एक वर्ण दूसरे पर हकूमत [illegible] चलावे, यह उचित नहीं। इस के उत्तर में हम कहेंगे [illegible] ४ मुख्य अंगों की क्या ज़रूरत है ? यदि है, तो ज[illegible] मानते ? रहा भय हकूमत का, सो हकू[illegible]। हकूमत के स्थान में **सेवा** शब्द [illegible] हते हैं, पर सेवा के उच्चतम भाव लिये [illegible]

का [illegible] **वर्ण-धर्म** शब्द है। धर्म के अर्थ कर्त्तव्य (ड्यूटी) के हैं जो ब्राह्मण वेद पढ़कर, ब्रह्मज्ञानी बन औरों को वेद पढ़ाता तथा आस्तिक बनाता है, वही अपना वर्ण धर्म, पालन कर रहा है। जो वह अपने धर्म को छोड़ देगा तो जीता हुआ मरा पड़ा है। पति धर्म, स्त्री धर्म, शिष्य

धर्म, पुत्र धर्म, पिता धर्म, पुत्री धर्म, माता धर्म, गुरु धर्म, ब्राह्मण धर्म, क्षत्रिय धर्म, वैश्य धर्म तथा शूद्र धर्म, इन शब्दों में क्या उत्तमता है, यह विचार शील स्वयं ही सोच लेंगे।

कई युरुप के पण्डित लिखा करते हैं, कि श्वेत रंग वाला ब्राह्मण होता था। यह सब कल्पनाएं उन की निर्मूल हैं, कारण कि मानव धर्म शास्त्र ने कभी वर्ण के अर्थ रंग के नहीं किये जब कि इस का प्रयोग ब्राह्मण आदि के साथ होता है। मनु जी लिख ते हैं, कि वेद पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान देना और लेना यह ब्राह्मण के काम हैं, यदि रंग की बात होती तो क्यों न लिख देते ? हां यह ठीक है, कि वर्ण के दूसरे अर्थ रंग के भी हैं, पर निरुक्त से वर्ण के अर्थ पदवी के निकलते हैं। बलवादि कहते हैं, कि शारीरिक बल प्रधान होना चाहिये था। ज्ञान को प्रधानता वेदने ब्राह्मण को मुख कह कर क्यों दी।' इस का उत्तर यह है कि हाथ [illegible] सी क्या, कहीं भी एक दृष्टान्त दिखा दो कि वि[illegible]रते हैं [illegible] स्वतंत्र काम करते हों। क्षत्रिय यदि प्रधान[illegible]ान [illegible] आगे [illegible] वस्तु [illegible] संसार में शान्ति कम रहेगी। क्षत्रिय वा बलवा[illegible] क[illegible] [illegible] उठाना है, जैसा कि इस शब्द के उत्तम अ[illegible] [illegible]ने के सिवाय हाथ रक्षाधर्म अद्भुत रीत से [illegible]लते [illegible] दर [illegible] शिर वा पग कौन दबाता है, मलमूत्र वाली इन्द्रियों को कौ[illegible] ? यही कहोगे कि हाथ, इस लिये बल का उत्तम उपयोग सेवा और आपत्ति काल में, शत्रुसंघार हो सकता है। श्रीयुत नन्दनाथ केदारनाथ दीक्षित, प्रिन्सीपाल ट्रेनिंग कालेज बड़ोदा ने एक बाल उपयोगी उत्तम पुस्तक गुजराती में **नागरिक ना धर्म,** संबंधी लिखी

है, इस में यह बात सिद्ध कर दिखाई है, कि एक व्यक्ति की उन्नति समाज की उन्नति में और समाज की वृद्धि व्यक्तिगत उन्नति से होती है।

जो लोग केवल जन्म से वर्ण मानते हैं, उन को सोचना चाहिये कि जन्म भी तो कर्मों के अनुसार ही मिलता है। जन्म से जो तिरोहित (Latent) रूप से उत्तम संस्कार किसी को मिले हैं, वह केवल अब कर्मद्वारा ही जनसमाज में प्रगट कर सकता है। कोई किसी रागी का पुत्र है, जबतक वह गाकर जोकि कर्म है गीत नहीं सुनाए, उस का तिरोहित गुण कैसे मालूम होगा ? पंखा पड़ा रहे, जबतक हिलाओगे नहीं पवन कैसे आवेगी ? अतः वर्ण प्रतीति गुणकर्म से ही होती है। स्कूलों की परीक्षाएं इसी नियम पर ली जाती हैं।

F. Howard Coll[illegible] [illegible]र्ड कोलिन्स) महोदयने हरबर्ट स्पेन्सर की समग्र[illegible] [illegible]एक ही पुस्तक में लिखी है जिस का नाम An Epit[illegible] [illegible]nthetic Philosophy (एन एपिटोम[illegible] [illegible]फलॉसोफी) है। कोलिन्स महोदय [illegible] स्वयं मिस्टर हरबर्ट स्पेन्सर ने लिखी [illegible] की [illegible]लोचना हम नीचे देते हैं, जिस से माल[illegible] [illegible] कि सृष्टि उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का वैदिक सिद्धान्त युरुप के पण्डितों के मस्तिष्क में जमने लगा है। इस के प्रथम परिच्छेद में बतलाया गया है कि विश्व के समष्टि और व्यष्टि रूप में प्रकृति और गति द्वारा नित्य कार्य्य हो रहा है यह आर्य्य सिद्धान्त नहीं तो क्या है ?

दूसरे परिच्छेद में उस ने उत्पति और प्रलय का लक्षण किया है, जिस का भावार्थ यह है कि जहां पदार्थ जब उत्पत्ति दशा में होता है तब भौतिक अंग उस में संयुक्त होते और गति भी अधिक उस में होती है वा यह कहो कि जब कोई पदार्थ बन रहा है तो उस के बनाने के लिये दो वस्तुओं की अधिक ज़रूरत होती है।

१ भौतिक सामग्री--

२ दूसरे उस सामग्री को रचने वाली गति वा शक्ति

फिर बतलाया है कि प्रलय अवस्था में गति अपने कारण में समाजाती वा लय पाने लगती है और गति के कम हो जाने से जड़ पदार्थ अधिकता से क्षीण होने लगते हैं।

संख्या चार में उत्पत्ति विशेष का वर्णन करते हुए उसका लक्षण करने की चेष्टा की गई [illegible] सामान्य उत्पत्ति के साथ किसी पिण्ड के अन्य भागों [illegible] को [illegible]त्पत्ति हो वह उत्पत्ति विशेष समझनी चाहिए।

९ इस में विश्व के [illegible]रते हैं [illegible]र व्यष्टि रूप की उत्पत्ति का वर्णन है और उस [illegible]ान [illegible]र भाग [illegible] वस्तु [illegible]िलते हैं उन को गिनाया है जैसे तारों और [illegible] ग्रहमण्डल की उत्पत्ति अवस्था, पृथिवी की [illegible]था पशु शरीर रचना, मानसिक नियम समा[illegible]ंगठन [illegible]

यह पढ़कर वह मनुष्य जिसने पुरुष सूक्त का [illegible] है चकित हो जाता है। कि जो पुरुष सूक्त में विराट रचना सूर्यचंद्रादि ग्रहों का निर्माण, पशु वनस्पति आदि की उत्पत्ति का वर्णन मानसिक उन्नति के नियम और मानवी समाज व्यवस्था (संगठन) के चार भाग ब्राह्मणादि इत्यादि विषयों का वर्णन जो

मिलता है, उस को मानो हर्बर्ट स्पेन्सर अपने इस लेख में अपूर्ण रीति से वर्णन कर रहा है, क्योंकि हर्बर्ट स्पेन्सर के इस लेख में आदि अमैथुनि सृष्टि, आदि शब्दमय ज्ञान के प्रकाश और मुक्ति धाम को मनुष्य मात्र के लिये एक ही मार्ग का जो वर्णन वहां है उस की यहां गन्ध भी नहीं। वह लोग जो ब्राह्मणों पर यह कह कर उपहास करते हैं कि वह पुरुष सूक्त के भक्त बन रहे हैं, अब हर्बर्ट स्पेन्सर के इन वाक्यों पर विचार करते हुए अपूर्व आदर से पुरुष सूक्त पर आकर्षित होंगे. क्योंकि जो विषय पुरुष सूक्त में सार गर्भित रीति से पूर्ण रूप लिये हुए हैं प्रायः वही विषय हर्बर्ट स्पेन्सर के फिलासफी का स्तम्भ बन रहे हैं, जो फिलासफी कि अभी उक्त तीन त्रुटियों के कारण पूर्ण नहीं कही जा सकती। बारहवें परिच्छेद [illegible] हर्बर्ट स्पेन्सर दर्शाते हैं कि उत्पत्ति के पीछे शक्तियों की स[illegible] के कारण स्थिति अवस्था प्राप्त होती है।

यह सिद्धान्त [illegible] त भूला हुआ नहीं कि उत्पत्ति के पश्चात् स्थिती [illegible] और वेद तथा आर्ष ग्रन्थ तो इस सिद्[illegible]

[illegible] न्सर महोदय उत्पत्ति की अन्तिम सी[illegible] हुए यह भी दर्शाते हैं कि यही प्रलय [illegible] का [illegible] प्रत्येक गतिमान् जड़ पदार्थ विश्राम की दशा को इसी नियम से पहुंचता है। सजीव शरीरों की दशा में उसी नियम को मृत्यु कहते हैं और नक्षत्र सूर्य्य चन्द्र पृथिवी आदि की दशा में यही नियम प्रलय कहलाता है। सब लोग जानते हैं कि आर्ष ग्रन्थ, पृथिवी की आयु नियत मानते हैं जिस को कल्प

कहते हैं। इसी कल्प के भाव को जो कि आजतक युरुप के पंडित नहीं जानते थे। यहां पर "रूपान्तरों का चक्र इस प्रकार पूर्ण होता है" यह कहकर मानो अनुभव किया है।

१४ वें परिच्छेद में बतलाया गया है कि उत्पत्ति और प्रलय का चक्र न केवल विश्वव्यापक ही है किन्तु नित्य है। यही सत्य-सनातन सिद्धान्त आदि सृष्टि के आर्य्यप्रजा वेदद्वारा जान रही है। आर्ष ग्रन्थ इसी का मंडन कर रहे हैं। अहो पुरुष सूक्त के यह अद्भुत शब्द कि "**आभवत् पुनः**" तथा "**पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्**" किस उत्तम रूपसे इस मर्म को कथन कर रहे हैं!

कई जैन महानुभाव कहा करते [illegible] यह पृथिवी सूर्य्य आदि कभी बने हों हम नहीं समझते, [illegible] चार में यह संसार जैसा अब है वैसा ही पहिले था [illegible] ही रहेगा। कई लोग इस के विपरीत यह कहते [illegible] पृथिवी) बना था अब है फिर प्रलय को प्रा[illegible] रते हैं [illegible] फर कभी बनेगा नहीं। दोनों विचार वालों को ह[illegible] वस्तु [illegible] लेख जागृत करेंगे, जिन का तात्पर्य यह है [illegible] त काल पर्य्यंत उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय [illegible] न का आदि है न अन्त अर्थात् यह नित्य [illegible] पक भी है अर्थात् सर्वत्र यही नियम काम कर र[illegible] शा[illegible] के पण्डित, हरबर्ट स्पेन्सर की यह बात पढ़ कर हमारी तरह कह उठेंगे कि देखो वैदिक सिद्धान्तों को हरबर्ट स्पेन्सरने भी अनुभव किया जिन का वर्णन हमारे वेदादि अनेक शास्त्रों में है।

श्रीयुत मास्टर आत्मारामजी कृत पुस्तकें

आज तक जितनी भी पुस्तकें श्रीयुत आत्मारामजी ने लिखी हैं उन सब को छपवा कर प्रकाशित करने का कार्य हमने लिया है। उन की पुस्तकें जो छप रहीं हैं वा छप चुकी हैं वह इस प्रकार हैं।

१ **ब्रह्म यज्ञ** (हिन्दी) वैदिक आर्यों की स्तुति प्रार्थना और उपासना की अति उत्तम मीमांसा (Philosophy) है उर्दु, गुजराती में इस के अनुवाद हो चुके हैं। दुआबा हाईस्कूल जालन्धर के मैट्रिक (Matric) क्लास में यह पाठ्य पुस्तक रह चुकी है। नया संस्करण जिस में पञ्च महायज्ञों की अद्भुत और अपूर्व व्याख्या भी है छप रही है। ऐसी उत्तम और सार गर्भित व्याख्या आज तक कहीं देखने में न आई.

२ **वैदिक विवाह**[illegible]न्दी) आर्य जगत् में व्याख्यात है। श्रीमती आर्य प्रतिनि[illegible]ाब ने इस को सन्मानित किया और श्रीमती आ[illegible]युक्त प्रान्त ने अपनी समस्त समाजों के पुस्तकालयों[illegible]ाज्ञा प्रदान करके इस को उत्तेजना दी है[illegible] संस्करण छपा था। अब **नया सं**[illegible] संशोधन तथा उत्तम परिवर्तन करने [illegible]की नई से नई उन थ्यूरिओं की भली[illegible] है जिन का प्रथम संस्करण छप ज[illegible]ादुर्भाव हुआ। इस के अतिरिक्त **वैदिक नियोगादर्श** इस नाम का एक भाग जो सर्वथा नवीन होगा और जिसके लिए सैंकड़ों पत्र आ चुके थे इस नए संस्करण में बढ़ा दिया गया है। पुस्तक छप रहा है॥

---

३. **बल प्राप्ति,** यह एक लघु पुस्तक है इस में यजुर्वेद के उस मंत्र की अपूर्व व्याख्या की गई है जो शास्त्रार्थ में लोग ऋषि दयानन्द के वेद भाष्य को कलङ्कित करने के लिए पेश करते थे- इस का गुजराती अनुवाद छप रहा है—

४ **माण्ड्योक्योपनिषद** इस पुस्तक का अनुवाद तथा इस के संबन्ध में एक अतीव सारगर्भित अंग्रेज़ी व्याख्या आर्य समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् महात्मा श्री पंडित गुरुदत्तजी एम. ए ने की थी जिस को पढ़कर बड़े बड़े विद्वान् मुक्त कंठ से प्रशंसाकर रहे हैं उस का हिन्दी अनुवाद उपयोगी टिप्पणी सहित श्री आत्मारामजी ने किया है जो धर्मानुरागियों के पढ़ने योग्य होगा। ग्रन्थ छप रहा है।

५ **आर्य्य धर्मेन्द्र जीवन** बाबू रामविलास शारदा रचित स्वामी दयानंद सरस्वतीजी का स[illegible] व श्रेष्ठ जीवन जिसकी भाषा बड़ी ओजस्विनी और इ[illegible] है कि बालक व स्त्रियां तक उस को आसानी से समझ[illegible] ३२ पृष्ठों कि भूमिका **सुप्रसिद्ध रा. रा. मास्टर**[illegible] लिखित है जिस में धर्म की महत्त्वता को ब[illegible] [illegible]या है मानो दरियाव को कूंजे में बन्द कर दि[illegible] वस्तु मूल्य रु० १॥

" *The Earthworm.* [illegible] [illegible]iption of the *Indian Earthworm* with [illegible] [illegible]iversity Question papers with ans[illegible]

Price Re 0-10-0 Po[illegible]

7 *Visitors Guide to* [illegible] 1. (Illustrated).

८ महाराजा बड़ोदा का जीवनचरित्र (सचित्र) मूल्य रुपया १)

९ दर्शनानन्द ग्रन्थ संग्रह—२ भाग. मूल्य २॥)

जयदेव ब्रदर्स बुकसेलर्स एन्ड पबलिशर्स, कारेली बाग—बड़ोदा.